वर्तमान राजस्थान

(सार्वजनिक जीवन के संस्मरण

लेखक

रामनारायण चौधरी

१९४८

मिलने का पता

राजस्थान प्रकाशन मण्डल

अजमेर

प्रकाशक
प्राकृतिक चिकित्सा ग्रन्थमाला कार्यालय
नीमकाथाना (जयपुर)

मूल्य ४)

प्रथम बार १०००

समर्पण

पं० अर्जुनलालजी सेठी राजस्थान में राष्ट्रीयता के प्रणेता थे। इन्हीं ने इस प्रान्त में आजादी की चाह का बीज बोया और अपने त्याग व तपस्या से सींचा था।

सेठ जमनालालजी बजाज प्रान्त की रचनात्मक प्रवृत्तियों के जनक, पोषक और संचालक थे। प्रान्त में गाँधी तत्वों का प्रवेश और प्रसार उन्हीं की सूझ, सलाह और सहायता से हुआ। देश के सर्वोच्च नेताओं में स्थान पाकर उन्होंने राजस्थान का गौरव बढ़ाया था।

श्री० विजयसिंहजी पथिक राजस्थान की असली जनता के पहले नेता थे। उन्हीं ने यहां के किसानों को जगाया, उन्होंने स्थानीय देशभक्ति की भावना को सजीव बनाया और उन्होंने राजस्थानी युवकों को आजन्म देश-सेवा की दीक्षा दी थी।

सेठीजी की प्रेरणा, सेठजी की उदारता, और पथिकजी के पथ-प्रदर्शन से लेखक उपकृत हुआ है। उसकी दृष्टि में आधुनिक राजस्थान के निर्माता मुख्यतः यही तीन बुजुर्ग कहे जा सकते हैं।

के अलावा अनेक देशभक्तों, समाज-सुधारकों, साहित्य- और छोटे-बड़े स्त्री-पुरुषों ने इस निर्माण कार्य में ग लिया है। मैं हार्दिक आदर और प्रेम से यह पुस्तक को समर्पण करता हूं।

—रामनारायण चौधरी

क्षमा याचना

हमें बहुत दुःख है कि इस संस्करण में प्रूफ की बड़ी भूलें रह गई हैं। इसके लिये हम लेखक महोदय और पाठकों से क्षमा याचना करते हैं और विश्वास दिलाते हैं कि अगले संस्करण में ये ग़लतियां सुधार दी जायँगी।

व्यवस्थापक,

नया राजस्थान प्रिंटिंग प्रेस,

अजमेर।

वर्तमान राजस्थान

पहला अध्याय

मेरी कल्पना और इतिहास की नजर में राजस्थान देश के उस हिस्से का नाम है जिसे राजपूताना कहते हैं, हालांकि हमारी राष्ट्रीय महासभा ने भापा के आधार पर जो प्रान्त बनाया उसमें मध्य भारत भी शामिल कर लिया गया। इस प्रांत में अजमेर मेरवाड़े का अंग्रेजी जिला, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, शाहपुरा, कोटा, बूंदी, झालावाड़, अलवर, किशनगढ़, क़रौली, सिरोही और दांता के राजपूत रजवाड़े, भरतपुर और धौलपुर के जाट और टोंक और पालनपुर की मुसलमान रियासतें शामिल हैं। इसका क्षेत्रफल १३०४६२ वर्गमील और आबादी १३६७०००० है। बारिश यहाँ पर साल भर में कम से कम ५ इंच और अधिक से अधिक ५० इंच के क़रीब होती है। बहुत बड़ा भाग रेगिस्तान होने के कारण आबहवा .खुश्क और

है। गर्मी में सख्त गर्मी और सर्दी में कड़ाके की सर्दी

दक्षिण में हरे भरे जंगल और पहाड़ भी हैं। चम्बल,

ाही [illegible] नदियां हैं। सांभर की झील हर साल

लाखों मन नमक पैदा करती है। खनिज पदार्थों में मोडल, संगमरमर और दूसरी तरह के पत्थर मुख्य हैं। भाषा राजस्थानी है जिसकी मुख्य मुख्य शाखायें मारवाड़ी, मेवाड़ी, वागड़ी और ढूंढाड़ी हैं। अनाज की पैदावार में जौ, गेहूँ, चना, मक्की, बाजरा और ज्वार खास हैं। ऊन भी काफ़ी होती है। पहनावा आम तौर पर पुरुषों का साफ़ा या पगड़ी, धोती और कुरता और स्त्रियों का लहँगा, ओढ़नी और अंगिया या चोली होती है। कारीगरी में यहाँ की रँगाई, पच्चीकारी, शिल्प और संगीत मशहूर हैं। राजपूत युद्ध के लिये और वैश्य व्यापार के लिये प्रसिद्ध हैं। ज्यादातर लोगों का धंधा खेती और घरेलू धंधे हैं। देखने के क़ाबिल जगहों में चित्तौड़ और रणथंभौर के क़िले, देलवाड़ा (आबू) का जैन मंदिर, जयपुर शहर और मेवाड़ का जयसमुद्र तालाब मुख्य हैं। इस प्रान्त को राणा प्रताप व दुर्गादास जैसे वीर और दादू व मीरां जैसे संतों को पैदा करने का भी गौरव नसीब हुआ है। उनकी गाथाएँ राजस्थानी साहित्य की अमर निधियां हैं।

शुरू की बात

मौजूदा राजस्थान में जागृति का दौर बंग-भंग और स्वदेशी आन्दोलन के बाद शुरू हुआ। इन्हीं दिनों छोटे से जापान ने बड़े भारी रूस को हरा कर यह साबित कर दिया कि जो एशिया वाले धर्म और नीति में संसार के अगुआ
ठीक तालीम पाकर यूरोपियनों को जेन्डी के [illegible]

नीचा दिखा सकते हैं। हिन्दुस्तानियों को इस घटना से बड़ा हौसला हुआ। मुल्क के एक कोने से दूसरे कोने तक देश-प्रेम की एक आँधी सी आ गई। राजस्थान इससे अछूता न रहा, मगर यह लहर साधारण जनता को न छू सकी. कुछ व्यक्तियों को ही लग कर रह गई।

इसी जमाने में आर्यसमाज का आन्दोलन भी जोरों पर था। महर्षि दयानन्द ने यहां काम भी किया था और अजमेर में उनका देहान्त हुआ था। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह और उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह पर स्वामीजी के जीवन और उपदेश की काफी छाप पड़ी थी। इधर सनातन धर्म पर इस आन्दोलन का दूसरा ही असर हुआ। दोनों ही हिन्दू-धर्म की असली दीवार वेदों को मानते थे, लेकिन बाहरी बातों के खासे हिस्से को आर्यसमाज सड़ा गला समझ कर इस पर चीर-फाड़ कर रहा था तो सनातन प्रेमी उसकी सच्ची और झूठी अच्छाइयां दिखाने में आकाश-पाताल एक कर रहे थे। इस कशमकश में जहां शास्त्रार्थों और खण्डन-मण्डन के जल्सों में आपसी तनातनी बढ़ती थी, वहाँ शिक्षा प्रचार, स्त्रियों को उठाने, कुरीतियां दूर करने वगैरा कई तरह से समाज सुधार का काम भी हुआ। सबसे बड़ी और अच्छी बात यह हुई कि जगह जगह आर्य समाज क़ायम हुए। इनसे सार्वजनिक जीवन की नींव पड़ी, संगठन का बीज बोया गया और किसी न किसी रूप में देश-प्रेम का प्रचार होने लगा।

हिन्दू मुसलमानों के आपसी ताल्लुक़ात अच्छे थे। आपस में धार्मिक विश्वास और सामाजिक रीति रिवाज का भेद सहन करते थे और फिर भी आपस के सुख दुख में भागीदार बनते थे। शादी ग़मी में तो सभी शरीक होते थे, धार्मिक अवसरों पर भी बहुत लोग सहयोग देते थे। जलझूलनी ग्यारस के जुलूस में मुसलमान और मुहर्रम में हिन्दू बराबर उत्साह दिखाते थे। कृष्ण के कीर्तन अनेक मुसलमान और मौलूद के वाज़ कई हिन्दू चाव से सुनते थे। हिन्दू मेहमानों के लिए मुसलमान ब्राह्मणों से भोजन बनवाते थे और हिन्दुओं के भावों का लिहाज़ करके गोमांस से परहेज़ रखते थे। मुसलमान रियासतों में गोवध बन्द था और कई हिन्दू राज्य अपने खर्च से ताज़िये निकलवाते थे।

राजनैतिक हलचल

राजनैतिक हालत अच्छी नहीं थी। राजपूताने का केन्द्र अंग्रेज़ों की प्रांतीय राजधानी होने के कारण अजमेर था। यहां रियासतों से कुछ ज्यादा आज़ादी थी। ब्रिटिश साम्राज्य की सदा यह नीति रही है कि देशी रजवाड़ों का शासन अंग्रेज़ी हुकूमत से खराब दिखाई देता रहे, ताकि जनता को स्वराज्य से अंग्रेज़ी राज ज्यादा अच्छा लगे। इस कारण अजमेर-मेरवाड़ा में राजनैतिक और सांस्कृतिक तरक़्क़ी राजपूताने के दूसरे भागों से कुछ ज्यादा होना कुदरती था। रियासती हिस्से में जयपुर, जोधपुर और उदयपुर राज्य ही मुख्य माने जाते थे। बीकानेर

का प्रभाव उस वक्त तक नहीं बढ़ा था। एक कारण तीनों रज-वाड़ों की प्रधानता का यह भी था कि तीनों के पिछले राजाओं ने हकूमत में कुछ सुधार किये थे। जयपुर के महाराजा रामसिंह-जी जोधपुर के जसवंतसिंहजी और मेवाड़ के सज्जनसिंहजी ने अपने अपने राज्यों में कौंसिलें बनाईं, स्कूल कालेज खोले, न्याय के महकमों का इंतज़ाम किया और सफ़ाई तंदुरुस्ती के महकमे जारी किये थे। गरज़ यह कि ये तीनों रियासतें औरों से आगे बढ़ी हुई समझी जाती थीं।

जयपुर रियासत

जयपुर रियासत के एक गांव में पैदा होने से मेरे सामने वहीं की हालत ज्यादा आई। वैसे, थोड़े से अदल-बदल के साथ, उसे राजपूताने भर के लिए नमूना समझा जा सकता है। जिस समय का मैं जिक्र कर रहा हूँ वह महाराज माधोसिंह-जी का जमाना था। विधान की दृष्टि से राज्य की समूची सत्ता राजा के हाथ में थी, मगर शासन का सारा संचालन 'मुसाहब' (प्रधान मंत्री) करता था। उसके बदलने पर बहुत सा 'अमला' बदल जाता था। जो आता अपने मित्रों, रिश्तेदारों और कृपा-पात्रों की भरती करता। नाम को एक कौंसिल थी। वह एक ही साथ रियासत की सबसे बड़ी बन्दोबस्त करने वाली संस्था, सब से ऊँची अदालत और कानून बनाने वाली सभा थी। उसमें कुछ जागीरदार, एक दो खानदानी मुसलमान, कुछ पढ़े लिखे जयपुरी और कुछ अंग्रेजों के दिये हुये बाहरी हिन्दुस्तानी मेंबर

होते थे। कौंसिल क्या थी, एक भानमती का पिटारा होती थी। मुसाहिब ही इसके कर्त्ता धर्ता थे। शासन में प्रजा का कोई हाथ न था। चुनी हुई पंचायतें, म्यूनिसिपल्टी या सभा जैसी कोई चीज़ न थी। ऊपर से नीचे तक सारा कारबार रियासत के तनखाहदार नौकर चलाते थे।

देहजात (मुफ़स्सिल) में खालसे और जागीरें दो तरह के इलाके थे। खालसे में ज़िला मजिस्ट्रेट 'नाज़िम' कहलाते थे। वे वहाँ के मुख्य न्यायाधीश, लगान वसूल करने वाले, सब से बड़े कर्मचारी और प्रबंध-विभाग के अफ़सर होते थे। इनमें से कई कानून नहीं जानते थे और राजधानी में असर रखने के कारण ओहदे पाये हुये थे। इनकी मदद के लिये पैदल और घुड़सवार फ़ौज की एक एक टुकड़ी, पुलिस और माल विभाग के मुलाज़िम रहते थे। ज़िले के केन्द्र में एक प्राइमरी या मिडिल स्कूल, एक छोटा सा अस्पताल, एक देशी डाकखाना, एक राह्दारी (सायर) की चौकी और एक जेलखाना होता था। नाज़िम अक्सर अपने इलाके के राजा होते थे। सर्कारी काम काज और रहन सहन में वे अपने मालिक की नक़ल करते थे, मनमानी करते, मालामाल होते और मौज उड़ाते थे।

देहात की पुलिस 'गीराई' कहलाती थी। वह हर ज़िले में एक एक डिप्टी सुपरडण्ट के मातहत होती थी। ये अफ़सर बहुधा कोई उजड्ड राजपूत या मुसलमान होते थे। इनकी निर्दयता इनकी मुख्य सिफ़ारिश होती थी। सर्कारी हल्कों में इसे

'दर्वगपत्त' कहा जाता था। ये अक्सर दौरे पर रहते थे। जहाँ जाते तहलका मचा देते थे। इनका आतंक इतना जबरदस्त होता था कि जहाँ इनका दौरा लगता, भले घरों की बहू बेटियों, बालकों और डरपोक प्रजाजनों का आज़ादी के साथ निकलना मुश्किल हो जाता था। अपराधों का पता लगाने का उनके पास एक ही तरीक़ा था। जिन पर सन्देह होता उन्हें खुले तौर पर दरख्त से लटका कर मारना, काठ (खोड़े) में लगा देना, धूप में खड़ा करके सिर पर पत्थर रखवा देना या कम्बल ओढ़ा कर पिटवाना उस वक्त पुलिस के ब्रह्मास्त्र थे। इसकी मार से निर्दोष भी जुर्म का इक़बाल कर लेते थे। हाँ, भरपूर पेट पूजा कर देने से भी छुटकारा हो जाता था।

लगान वसूली का यह ढंग था कि 'नायब कलक्टर' चौधरियों और पटवारियों की सलाह से खड़ी फ़सल का 'कूंता' (अंदाजा) करके पैदावार की कमी वेशी के अनुसार लगान की कम ज्यादा रकम मुक़र्रर कर देते थे। वसूली के लिये कहने को तो तहसीलदार होते थे और उनके पास 'डीलों' (प्यादों) का एक दल भी रहता था। मगर वसूली का सीधा काम 'इजारदारों' की मार्फत होता था। इस प्रथा के अनुसार क़स्बों के महाजन एक या अधिक गांवों का लगान वसूली का 'इजारा' या ठेका ले लेते थे। राज्य की रक़म तो बंधी हुई होती थी, परन्तु इजारदार अपने मेहनताने के तौर पर अधिक भी वसूल कर सकते थे। वह तहसील के प्यादों की मदद तो ले ही सक

अपने 'शहने' भी रख सकता था। इन लोगों को इजारदार गांठ से कुछ नहीं देता था, उनकी 'तलब' के 'परवाने' जारी कर देता था जिन्हें 'आसामी' चुकाते थे। तहसीलदार और उनके अमले का खास काम यही था कि इजारदारों की वसूली में दिक्कत हो तो किसानों को काठ (खोड़े) में बिठा कर या दूसरी तरह बल प्रयोग करके उनकी हड्डियां चूस ली जायँ। सार यह कि माल के महकमे के मारे देहात में त्राहि त्राहि मची रहती थी।

जागीरों में

जागीरदारों के यहां के हालात इससे भी बदतर थे। वे खुद आमतौर पर वे पढ़े, बेकार, वंश के अभिमानी और विलासी होते थे। उनके यहां हैसियत के अनुसार दास दासियों की छोटी बड़ी टोली थी। इन अभागे प्राणियों में पुरुषों को स्वतंत्रता और स्त्रियों को सतीत्व के अधिकार नहीं थे। हल्के से हल्का और बुरे से बुरा काम इनसे लिया जाता था। जागीरी प्रजा की हालत भी इन गुलामों से बहुत अच्छी नहीं थी। ज्यादातर 'सर्दारों' को क़ानून से फौजदारी या दीवानी के अख्तियार न होने पर भी प्रायः सभी जागीरदारों का आतंक, छलबल, प्रलोभन और उत्पीड़न रैयत को बुरी तरह दबा कर रखने में सफल होता था। वे 'लाटा बाँटा' की प्रथा के अनुसार किसानों से पैदावार का चौथाई से आधा हिस्सा तक लगान के रूप में वसूल कर लेते थे, जिसे चाहते बेदखल करते, समय असमय बेगार में

जोतते और अनेक तरह की लाग बाग लेते थे। उनकी शिकार की कुटेव से जानवरों से ज्यादा किसानों का शिकार होता था। शराब पीकर भोग-विलास में पड़े रहना और प्रजा को चूसना ही ज्यादातर जागीरदारों का रोज़ाना जीवन कहा जा सकता था। सामन्तशाही के अंग होने के कारण दूसरी योग्यताएं न होने पर भी रियासत की हुकूमत में उनका काफी हाथ रहता था। लेकिन अभी तक इन्सानियत के गुण उनमें से बिल्कुल ग़ायब नहीं हुए थे।

अंग्रेज़ों का बोलबाला

अंग्रेजों का दबदबा ग़ैर मामूली था। तादाद में तो एक डाक्टर, एक इंजीनियर, एक बैंड मास्टर, एक तामीरात का अफ़सर और एक रेजीडेन्ट—कुल मिला कर चंद ही गोरे थे। मगर जितनी तादाद थोड़ी थी, असर उतना ही ज्यादा था। उनकी सफेद चमड़ी के कारण उनमें से छोटे से छोटे को राज्य का बड़े से बड़ा जागीरदार व अधिकारी अपने से ऊँचा मानता था। वे ख़ून भी कर देते थे तो रियासत की पुलिस या अदालत उनके हाथ नहीं लगा सकती थी। गोरे सर्जन के लिए आम जनता में यह धारणा थी कि वह महाराजा को भी पागल बना कर गद्दी से उतरवा सकता है। अजंट साहब (रेज़ीडेन्ट) का इशारा, बड़े साहब (ए. जी. जी.) की तहरीर और लाट साहब (वायसराय) का खरीता महाराज के लिए ग़ैरमामूली महत्व रखता था। हर साल रेज़ीडेन्ट और

हर तीसरे या पाँचवें वर्ष ए. जी. जी. का दौरा होता था। लगभग हर वायसराय अपने ज़माने में एक बार जयपुर ज़रूर तशरीफ़ लाते थे। इनके आने से रियासत पर कितना आर्थिक भार पड़ता था, देहाती प्रजा को रसद व बेगार की चक्की में कैसे पिसना होता था और साम्राज्यवाद का कैसा ज़हरीला प्रचार होता था, यह एक दर्दनाक कहानी है। हाँ, इन दौरों से कभी-कभी प्रजा की शिकायतें भी सामने आ जाती थीं, मगर इससे प्रजा को तो शायद ही कुछ राहत मिलती, अलबत्ता राजा के खिलाफ़ पोलिटिकल डिपार्टमेंट की गुप्त सामग्री ज़रूर बढ़ जाती।

नौकरियां

रियासत में नौकरियाँ सचमुच बिकती थीं। चपरासी से दीवान तक का ओहदा या तो रिश्वत से या सिफ़ारिश से मिलता था। योग्यता की क़द्र शायद ही कभी होती थी। कोई परीक्षा नहीं ली जाती थी और न कारगुज़ारी का हिसाब रखा जाता था। नौकरी पाने के लिए जैसे रक़में बँधी हुई थीं, वैसे ही नौकरी पाने के बाद ये लोग भी हर काम के लिए फ़ीस लेते थे। न्याय-विभाग को ही लें तो मिसल देखने से लगाकर अनुकूल फ़ैसला कराने तक सब कुछ रिश्वत से हो सकता था। उसमें भी, 'जो बड़े सो पावे'। वेतन बहुत थोड़े थे, लेकिन 'ऊपर की आमदनी' कई गुनी हो जाती थी। जहाँ न्याय व क़ानून की दुर्गत हो, वहाँ दलीलों और नज़ीरों का क्या गुज़र?

लाचार, वकीलों को भी 'खाने खिलाने' का धंधा करना पड़ता था। इस तरह गरीब प्रजा—खासकर देहातियों व किसानों—के खिलाफ सारे बुद्धिशाली और शिक्षित वर्ग का एक षड्यंत्र सा काम कर रहा था जिसे यही उधेड़ बुन रहती थी कि किस तरह इन भोले अन्नदाताओं से अपना स्वार्थ सिद्ध किया जाय। इन बेचारों से राज और राम दोनों रूठे हुए थे।

महाराजा साहब

महाराजा में अच्छाइयों और बुराइयों का अजीब मेल था। एक तरफ वे धर्म से बड़े डरने वाले थे, रोज उठकर गाय और गोविन्ददेव के दर्शन करते, माला जपते, गंगाजल के सिवाय दूसरा पानी न पीते और सैकड़ों ब्राह्मणों और कंगालों को खिलाते थे। प्रजा के लिये उनके दिल में कोमल स्थान था। उस पर सख्ती करने के वे विरोधी थे। उनके ज़माने में कोई दमनकाण्ड नहीं सुना गया। दयालु इतने कि जयपुर के सैंट्रल जेल में सुधारों के नाम पर कुछ नई पाबंदियाँ लगाने के विरोध में जब ग्यारह महीने की हड़ताल हुई तो अधिकारियों के लाख चाहने पर भी बूढ़े महाराजा ने कैदियों पर लाठी या गोलियाँ न चलने दीं। दूसरी तरफ वे इतने अय्याश थे कि उनके महल में तीन चार हज़ार स्त्रियाँ थीं। इन में से ज्यादातर को डर या लालच दिखा कर जवानी में फाँस लिया गया था। उनकी दुर्दशा बयान करना कठिन है, अंदाज़ा आसानी से हो सकता है। नतीजा यह होता था कि महाराजा को भोग विलास के

आगे राजकाज देखने की फ़ुर्सत ही नहीं मिल सकती थी। उस समय का अंदाजा यह था कि राज्य की आमदनी के तीन बराबर भाग किये जायं तो एक हिस्सा जागीरदारों पर, दूसरा शासन पर और तीसरा अकेले महाराजा पर खर्च होता था। प्रजा में राजनैतिक विचारों की इतनी कमी थी कि इन बातों पर असंतोष होने के बजाय राजा के लिये अंधी श्रद्धा थी। वह उसको ईश्वर का अंश मानती और उसकी अंधाधुन्ध नक़ल करती थी। मुझे खूब याद है कि तीज, गनगौर और दशहरे के उत्सवों पर साल में तीन बार जब महाराजा महलों के बाहर निकलते तो उनकी 'सवारी' देखने के लिए राजधानी के ही नहीं, दूर दूर के देहात के नर नारी राज मार्ग पर समुद्र की तरह उमड़ पड़ते और 'खम्मा अन्नदाता' के घोष से आकाश को गुँजा देते थे। खानगी जीवन में भी राजाओं के क़दमों पर चलने में प्रजाजन अपना गौरव समझते थे। आश्नाई करना गृहस्थ में और वेश्या रखना सरकारी मुलाजिमत में बुरा नहीं समझा जाता था। धर्म का ढोंग भी राजा की तरह प्रजा में फैला हुआ था। लेकिन जैसे बादलों में बिजली और रेगिस्तान में हरियाली होती है, वैसे ही इस अंधेर में भी कुछ उजाले की जगहें थीं। राजधानी में ही सही, थोड़ा सांस्कृतिक वायुमण्डल था, शिक्षण संस्थाएं थीं, कला की कद्र थी, अजायबघर था, ज्योतिष-यन्त्रालय था और 'गुनीजन खाने' में गाने बजाने वालों को आश्रय मिलता था। विलास की सामग्री बहुत थी,

मगर सारी स्वदेशी। विदेशी चीज़ों का शौक न तो राजा को था, न प्रजा को। जागीरदारों में कहीं कहीं और राजकर्मचारियों में हर जगह कोई न कोई न्याय प्रेमी और सदाचारी पुरुष मिल जाते थे। प्रजा जनों में भी इक्के दुक्के आदमी स्वाभिमानी, परोपकारी और दबंग आदमी पाये जाते थे। जगह जगह साधु संत चुपचाप अपने ढंग से जनता में अध्यात्म, सदाचार और ईश्वर परायणता का प्रचार कर रहे थे। शासन में मानवता का अंश बाक़ी था, बेरहमी ने अभी पश्चिम का सा रूप धारण नहीं किया था और ज़ालिम से ज़ालिम कर्मचारी और पामर से पामर प्रजाजनों के अंतर का दैवी भाग जगाया जा सकता था।

सार्वजनिक जीवन

सार्वजनिक जीवन नहीं था। राजनैतिक संस्थाएँ और सभाएँ नाम को भी न थीं। अख़बार तो निकलते ही क्या? आर्यसमाज ज़रूर था। उसके साप्ताहिक जल्से भी होते थे और कभी कभी बाहर के उपदेशकों के व्याख्यान भी हो जाते थे। थोड़ी हलचल जैन साधुओं के भाषणों से भी समय समय पर हो जाया करती थी। मगर प्रजा के अधिकारों और कर्त्तव्यों, राज्य के शासन-सुधारों और देश की राजनीति से जहां तक संबंध है, वहां तक मामला कोरमकोर था। सन् १९०५ से १९१० के बीच के छः साल में सिर्फ पांच अवसर मुझे याद पड़ते हैं, जब देशभक्ति का नाम सुना हो या सार्वजनिक जीवन के दर्शन हुए हों। पहली घटना १९०६ की

है जब मैंने तंवरावाटी के नाजिम पु० हरिनारायणजी के यहां फ़तहपुर के सेठ रामदयालजी नेवटिया के 'देशोपकारक' मासिक का एक अंक देखा। उसमें पहले ही पन्ने पर स्व० पं० चन्द्रधर गुलेरी की एक कविता थी जिसमें रूस पर जापान की विजय का बखान करते हुए एशिया वासियों—खास कर हिन्दुस्तानियों—से जागने की अपील की गई थी। दूसरा वाक़या १९०८ का है। उस समय मेरी उम्र १२ वर्ष की होगी और मैं लोअर मिडिल में पढ़ता था। नेसफील्ड की तीसरी रीडर में वॉल्टर स्कॉट की की 'लव ऑफ 'दी कण्ट्री' नामक कविता का पाठ था। उसे मास्टर रामकुमारजी चौथा ने अपना सारा हृदय उंडेल कर पढ़ाया था। तीसरा मौका पं० श्रवणलाल नामक सनातनी प्रचारक के व्याख्यान का था जिसमें वक्ता ने प्राचीन भारत की सतियों की अलौकिक शक्ति का चित्र खींचा था। चौथा मौका श्री० रामनाथ रत्नू नामक चारण सज्जन की विलायत यात्रा का देशभक्ति से भरा हुआ हाल पढ़ना था। पाँचवीं घटना यह थी कि जयपुर के आर्यसमाज में एक महाशयजी ने आर्य सभ्यता पर जोरदार भाषण दिया था। इनके अलावा यह भी सुना था कि राजधानी में बड़े राज कर्मचारियों के दो दलों में जो 'सज्जन पार्टी' थी इसकी समिति अक्सर नीति, सदाचार व संस्कृति संबंधी विषयों की चर्चा किया करती है। लेकिन सन् १९१२ तक जिस चीज का मुझे पता नहीं लगा और जो सार्वजनिक जीवन के खयाल से जयपुर की ही नहीं—प्रांत भर में सबसे महत्व की

चीज़ थी, वह थी पंडित अर्जुनलाल जी सेठी की हस्ती और चुपचाप काम करने वाली उनकी मंडली। मगर इसका हाल तो दूसरे ही किसी परिच्छेद में आवेगा।

ग़रज़ यह कि रियासतों में देहाती प्रजा अज्ञान, ग़रीबी और ज़ुल्म से पीड़ित थी तो शहरी जनता आलस्य, विलास और नौकरी के गड्ढे में फँसी हुई थी। राजनैतिक जीवन का कहीं निशान न था। ऐसी दशा में देश सेवा का पौदा क्या तो उगे और क्या बढ़े? मेरी तरह हज़ारों नौजवान ऐसे थे जिन्हें आज़ादी और देश प्रेम का प्राणवायु मुश्किल से छू पाता था कि उनके दिलो-दिमाग की कलियां बिन खिले ही मुरझा जाती थीं।

अजमेर का शासन

उस समय राजस्थान में राजनीति नाम को भी कहीं थी तो वह अजमेर में थी। वहां कांग्रेस का नरमदली संगठन था। रा० सा० विश्वंभरनाथजी टंडन, श्री प्रभुदयालजी भार्गव वकील और बैरिस्टर गौरीशंकरजी इसके मुखिया थे।

शासन में एक अंग्रेज चीफ कमिश्नर यहां का राजा था। उसके हाथ में एकतंत्री शासन के करीब करीब सारे अधिकार थे। उसकी मनमानी को रोकने वाली न कोई कौंसिल थी, न धारासभा। वही राजपूताने के लिये गवर्नर-जनरल का एजेन्ट भी था। उसके मातहत एक कमिश्नर था जो एक ही साथ जज-मजिस्ट्रेट, कलक्टर, शिक्षा का डाइरेक्टर, जेलों का अ

और सभी विभागों का विधाता था। इसकी मदद के लिये असिस्टेंट कमिश्नर और पुलिस सुपरिन्टेन्डेण्ट भी यूरोपियन ही होते थे। पुलिस मारपीट से काम लेती थी और माल, पुलिस और इन्साफ वगैरा सब महकमों में रिश्वत का बाजार गर्म था। न्याय और प्रबन्ध विभाग एक था और कोई हाईकोर्ट न थी। इसलिये लोगों को खालिस इन्साफ नहीं मिलता था। जिले का एक बड़ा भाग इस्तमरारदारों के मातहत था। स्वयंभू दर्बारों की यह जमात बाप दादों से मिले हुए अधिकार और सहूलियतें भोगती थी। और बृटिश सरकार की सीधी देख रेख में लाग-बाग-बेगार और मनमाना लगान वसूल करती थी, बेदखलियां करतीं और प्रजा को सताने और चूसने की सभी लीलाएं करती थी, दास दासियां रखती, और लोगों को गैर क़ानूनी सजाएं देती थी। खालसे में लगान जरूर हल्का था, मगर बेगार अंग्रेज भी लेते थे। जब वायसराय की रेल इधर से गुजरती तो इसकी रक्षा के लिये रियासतों की तरह इस अंग्रेजी इलाक़े में भी देहाती बेगार में पकड़ लिये जाते और रात हो या दिन, जाड़ा हो या गर्मी, धूप हो या वर्षा तार के खम्भों के पास पहरा देने को खड़े कर दिये जाते थे। म्यूनिसिपल्टियों और जिला बोर्ड में सरकारी आदमियों की ही भरमार थी। उनमें लोक सत्ता नाम को ही थी।

अजमेर में रेल्वे का केन्द्र और बड़ा कारखाना होने से लोगों को रोजगार जरूर मिलता था, मगर उसमें भी अंग्रेजों और

दो शब्द

बंगभंग के बाद देश के दूसरे हिस्सों की तरह राजस्थान में भी राष्ट्रीय जागृति आरम्भ हुई। प्रान्त में क्रांतिकारी आन्दोलन शुरू हुआ। अजमेर-मेरवाड़ा में होमरूल की हलचल का असर पड़ा। उसके बाद गांधी युग आया। इसी के साथ श्री विजयसिंहजी पथिक का चलाया हुआ बिजौलिया का सत्याग्रह हुआ और राजस्थान सेवा संघ के नेतृत्व में रियासतों की देहाती प्रजा ने अपने कष्ट निवारण के लिये अनेक लड़ाइयां लड़ीं। इसी बीच खादी, राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशन और दूसरी रचनात्मक प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। इतने में सन् १९३० की शांत क्रांति आ पहुंची। राजस्थान ने उसमें भी भाग लिया। इसी तरह सन् १९३२-३४ के आज्ञा भंग आन्दोलनों में भी इस प्रांत ने पत्रपुष्प भेंट किया। फिर गांधीजी ने हिन्दू धर्म के माथे से अछूतपन का कलंक मिटाने के लिये जो महायज्ञ रचाया उसमें भी राजपूताने ने बूते के अनुसार हिस्सा बटाया। इसके बाद हरिपुरा कांग्रेस से देशी रियसतों की जनता को स्वावलम्बन का जो संदेश मिला उस पर हमारे रजवाड़ों में अमल हुआ और प्रजा मण्डलों का जन्म और संगठन हुआ। हमारे कई राज्यों में प्रजा ने अपने अधिकारों के लिये सत्याग्रह किया। सन् १९४० में मौजूदा महायुद्ध के सिलसिले में ब्रिटिश सत्ता की

दमननीति के प्रति विरोध प्रदर्शित करने के लिये व्यक्तिगत सत्याग्रह हुआ। उसमें भी कुछ राजस्थानियोंने भाग लिया। सन् १९४२ में आजादी का आखिरी जंग शुरू हुआ। इसके सिलसिले में क़ैदी बन कर तो यह पंक्तियां लिखी ही जा रही हैं।

इस राजनैतिक जद्दोजहद के अलावा प्रांत में साहित्य, समाज सुधार, शिक्षा प्रचार और दूसरी सांस्कृतिक कोशिशें भी हुईं।

लेकिन आधुनिक राजस्थान के इस सारे जागृति-काल का कोई इतिहास नहीं लिखा गया। हमारे मध्यकालीन गौरव की गाथायें तो अनेक भारतीय और विदेशी लेखकों ने गाई हैं। वे हमें ही नहीं, देश भर को स्फूर्ति देती हैं। परन्तु हाल की स्वातंत्र्य चेष्टाओं का बखान क्रमबद्ध रूप में विहङ्गम दृष्टि से भी नहीं हुआ। बाहर वालों की नजर में हमारे आपसी झगड़े जरूर आये, हमारा उज्वल पक्ष सामने नहीं आया। लेकिन वह जितना छिपा है उतना नगण्य भी नहीं है। उसके प्रकाश में आये बिना ऐतिहासिक सत्य अधूरा रहता, आने वाली पीढ़ियों को एक खास सामग्री का अभाव खटकता और भावी निर्माण कार्य में वर्तमान की खूबियों और खराबियों का लाभ न मिलता।

इस अभाव को अनेक मित्रों की तरह कई साल से मैं भी महसूस करता था। लेकिन सार्वजनिक जीवन की मसरूफ़ियतों में हम जैसे सेवकों को शान्ति पूर्वक कुछ लिखने का अवकाश जेल में ही मिला करता है। ख़ुशक़िस्मती से वह मौक़ा हाथ लग

गया। लेकिन जेलखाने में एक राजनैतिक इतिहास लिखने के लिये जो सामग्री और अनुकूलता चाहिये वह मयस्सर नहीं होती। इस नजरबन्दी में तो प्रतिकूलताएं और भी कड़ी रहीं। साथ ही लेखक के जीवन का उस इतिहास से घनिष्ट सम्बंध रहा हो तो न वह अपने व्यक्तित्व को उससे अलग रख सकता है, न निःसंकोच भाव से उसमें अपना भाग समाविष्ट कर सकता है। ऐसी हालत में अच्छा तो यही था कि कोई ऐसे भाई इस भार को उठाते जो अधिक तटस्थ वृत्ति से लिख सकते हैं। मगर जिन दो चार मित्रों की ऐसी स्थिति है वे तैयार नहीं हुए। इसलिए लाचार होकर मुझी को यह काम हाथ में लेना पड़ा। बहुत विचार करने के बाद मुझे ऐसा लगा कि यह पुस्तक संस्मरणों के रूप में ही लिखी जाय। जहाँ तक घटनाओं का सम्बन्ध है यह ध्यान रखने की कोशिश की गई है कि उन्हें ठीक उसी रूप में पेश किया जाय जिसमें वे मेरे सामने आई या याद रहीं। उनकी सचाई के बारे में शंका की जगह दूसरे जानकार साथियों की सलाह भी ली गई है। व्यक्तियों के गुणों का ही वर्णन करने पर अधिक जोर दिया गया है और जहां दोष दिखाना जरूरी था वहां उन्हें प्रवृत्तियों से सम्बद्ध करके बताया गया है।

अवश्य ही कुछ घटनाओं, प्रवृत्तियों और व्यक्तियों का उल्लेख इस पुस्तक में नहीं हुआ है जो सार्वजनिक या ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं, मगर संस्मरण पद्धति में ऐसा होना अनिवार्य है। इसमें तो निकट परिचय या प्रत्यक्ष अनुभव की बातें ही दी जा सकती हैं।

यह पुस्तक मई १६४५ से पहले ही जेल में लिखी गई थी। इसलिये इसमें तभी तक की घटनाएं आई हैं। केवल अन्त में थोड़ासा जिक्र बाद के हालात का करके उसे मौजूदा समय तक लाने की कोशिश की गई है।

अगर सत्य, सुरुचि और सार्वजनिक हित के ख़याल से कोई आपत्तिजनक बात दिखाई पड़े तो पाठक मुझे सुझा देने की कृपा करें ताकि अगले संस्करण में ऐसी सूचनाओं से लाभ उठाया जा सके।

भूमिका

हमारे देश ने स्वाधीनता की पहली मंज़िल पार करली है। विदेशियों के चुंगल से वह मुक्त होगया है और सैकड़ों वर्ष बाद हमें उन्मुक्त वायुमंडल में सांस लेने का मौक़ा मिला है।* दूसरी मंज़िल शुरू करने के पहले यह ज़रूरी है कि हम पिछली घटनाओं पर एक सरसरी निगाह डाल लें। कृतज्ञता का भी यह तक़ाज़ा है कि उन साथियों का भी स्मरण कर लिया जाय, जो गत संग्रामों में जूझ गये और जिनका नाम समकालीन व्यक्ति भी भूलते जाते हैं। इसके सिवाय भारतीय स्वाधीनता के विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास के लिये भिन्न भिन्न जन-पदों के विविध संघर्षों का विवरण अनिवार्यतः आवश्यक है। संक्षेप में यों कहिये कि भावी इतिहास लेखक के लिये मसाला तय्यार करना है। स्वयं लेखक महोदय बन्धुवर रामनारायणजी चौधरी ने अपने प्रारम्भिक कथन में लिखा है:—

"आधुनिक राजस्थान के इस जागृतिकाल का कोई इति-हास नहीं लिखा गया। हमारे मध्यकालीन गौरव की गाथायें तो अनेक भारतीय और विदेशी लेखकों ने गाई हैं, वे हमें ही नहीं, देश भर को स्फूर्ति देती हैं, परन्तु हाल की स्वातंत्र्य

---

* हां, अजमेर-मेरवाड़े में शायद अब भी वही दम-घोंटू वातावरण मौजूद है। पढ़िये पृष्ठ २३२

चेष्टाओं का बखान क्रमबद्ध रूप में, विहंगम दृष्टि से भी नहीं हुआ। बाहर वालों की नजर में हमारे आपसी झगड़े जरूर आये, हमारा उज्ज्वल पक्ष सामने नहीं आया। लेकिन वह जितना छिपा है उतना नगण्य भी नहीं है। उसके प्रकाश में आये बिना ऐतिहासिक सत्य अधूरा रहता, आने वाली पीढ़ियों को एक खास सामग्री का अभाव खटकता और भावी निर्माण कार्य में वर्तमान की .खूबियों और खराबियों का लाभ न मिलता·····"

निस्सन्देह लेखक को अपने उद्देश्य में पर्याप्त सफलता मिली है: उन्होंने एक ढॉचा तय्यार कर दिया है--स्टील फ्रेम ही बना दिया है--और यह भी संकेत कर दिया है कि ऐतिहासिक भवन निर्माण की सामग्री कहां कहां मिल सकती हैं। फिर भी इस पुस्तक को सर्वाङ्ग पूर्ण राजनैतिक इतिहास नहीं कहा जा सकता--.खुद लेखक ने इसका दावा नहीं किया और इसे संस्मरण ग्रन्थ ही माना है और वह भी प्रतिकूल परिस्थितियों में—जेलखाने में लिखा हुआ। समालोचकों का कर्त्तव्य है कि वे इसी दृष्टि से इस ग्रन्थ के गुण दोषों पर विचार करें।

'वर्तमान राजस्थान' के इस ड्रामा को हमने बड़े ध्यानपूर्वक देखा है। नाटक के विविध दृश्यों ने कभी हमें चकित कर दिया है तो कभी उद्विग्न, कभी स्तम्भित तो कभी गद्गद् और यद्यपि कभी कभी हम अपरिचित नामों की भरमार से कुछ घबरा गये हैं तथापि हमारे ऊबने की नौबत कभी नहीं आई। सम्भवतः इसका कारण यही है कि इस नाटक के कितने ही पात्रों के

दर्शन करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है। कई महानुभावों से अपना घनिष्ट सम्बन्ध खो रहा है और कई तो अब भी हमारे लिये आदरणीय हैं।

इस नाटक में कहीं आपको जयपुर महाराज की तीन चार हजार (!) स्त्रियों के दर्शन होंगे, तो कहीं आठ रुपये महीने पर गुजर करने वाले पथिकजी के। कहीं किसी उजड्ड कोतवाल द्वारा सुप्रसिद्ध पत्रकार भाई शोभालालजी गुप्त जूतों से पिटते हुए देख पड़ेंगे तो कहीं पुस्तक लेखक चौधरी जी मारवाड़ी भेष में षड्यन्त्र करते हुए। पुस्तक के ५६ वें पृष्ठ पर महात्माजी तथा पथिकजी के वार्तालाप की जो झांकी दिखलाई गई है उससे गद्गद् होजाना पड़ता है। रंगमंच पर कहीं भोगविलासी राजा-महाराजा आते हैं तो कहीं उनके निरंकुश दीवान और दूसरी ओर अपना सर्वस्व मातृ-भूमि की बलिवेदी पर अर्पित करके शहीद बन जाने वाले युवकों के भी दिव्य दर्शन होते हैं। स्वयं नाटककार और सूत्रधार का पार्ट भी गौरवजनक तथा स्फूर्तिप्रद है। उनके प्रारम्भिक क्रान्तिकारी जीवन का वृत्तान्त उपन्यास की तरह मनोरंजक है। हम विनम्रतापूर्वक उनके उस उज्ज्वल रूप की वन्दना करते हैं।

लेखक महोदय से हमारा २५-२६ वर्ष पुराना सम्बन्ध है और आज हम अपने इस अपराध को स्वीकार करते हैं कि उनकी असाधारण प्रचार शक्ति से हमें कभी ईर्षा भी थी। यह उस समय की बात है जब कि उनके सेवासंघ का प्रचार विभाग

अपनी सफलता की चरमसीमा तक पहुंच चुका था और श्रीयुत पैथिक लारेंस द्वारा ब्रिटिश पार्लिमेएट में सवाल कराना उनके लिए बाएं हाथ का खेल होगया था। निस्सन्देह उन दिनों प्रचारक की हैसियत से वे हमसे कहीं आगे बढ़ गये थे, पर दुर्भाग्यवश सेवा संघ की शक्तियां तितर बितर हो गईं और उसके कार्यकर्त्ताओं को भिन्न भिन्न क्षेत्रों में कार्य करने के लिये विवश होना पड़ा। मनुष्यों की तरह राजनैतिक संस्थाओं के जीवन में भी उतार चढ़ाव के दिन आते हैं और ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति कम ही होते हैं जो आरम्भ से अन्त तक अपनी सजीवता बनाये रक्खें। हर्ष की बात है कि इस पुस्तक के लेखक की गणना 'जीवित' व्यक्तियों में की जा सकती है। अजमेर-मेरवाड़े के निरंकुश शासक द्वारा उनके अखबार पर निरन्तर वार होना इस बात का सूचक है कि चौधरीजी में क्रान्ति की वह चिनगारी अभी बाक़ी है, जिसे बुझाने में बीसियों चीफ़ कमिश्नरों का मुंह झुलस सकता है!

संस्मरण ग्रन्थ में यह स्वाभाविक ही है कि लेखक अपने व्यक्तित्व के विकास के साथ ही साथ घटनाओं पर प्रकाश डाले। इससे जहाँ पुस्तक की रोचकता में वृद्धि हो जाती है वहाँ अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं, प्रवृत्तियों तथा व्यक्तियों का उल्लेख छूट जाता है। सन्तोष की बात है कि लेखक ने अपनी पुस्तक की इस त्रुटि को स्वीकार किया है और सबसे बड़ी बात यह है कि पुस्तक में कहीं भी अहंभाव अथवा दम्भ की झलक नहीं आने

पाई। लेखक की तटस्थ मनोवृत्ति और गुण ग्राहकता निस्सन्देह प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। राजस्थान के अलग अलग दलों के कार्यों का तथा, भिन्न भिन्न नेताओं के परिश्रम का उचित मूल्याङ्कन करने में लेखक को कहाँ तक सफलता मिली है इसका ठीक ठीक लेखा जोखा तो वही लोग कर सकते हैं जो राजस्थान की परिस्थिति से भली भाँति परिचित हों, जिन्होंने उक्त जनपद के संघर्षों में भाग लिया हो और जो उसकी गतिविधि से परिचित रहे हों। उदाहरणार्थ, श्रद्धेय पथिक जी, भाई हरिभाऊजी और बन्धुवर शोभालालजी—यह काम हमारे जैसे पालतू फ़ालतू साहित्यिक के बूते का नहीं। * हाँ, एक क्षुद्र पत्रकार के नाते, इतना हम भी कहेंगे कि चौधरी जी में कृतज्ञता नामक गुण अच्छी मात्रा में विद्यमान है, जो आज के कृतघ्न युग में बहुत ही दुर्लभ चीज़ है। श्री० अर्जुनलालजी सेठी को जिन आदरपूर्ण शब्दों में स्मरण किया गया है उससे चौधरीजी की गुरु भक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। स्वर्गीय ठाकुर केसरीसिंहजी बारहठ, खरवा के राव गोपालसिंहजी और ब्यावर के सेठ दामोदरदासजी राठी इत्यादि के चरित्रों की श्रद्धापूर्ण झाँकियां इस पुस्तक में दीख पड़ेंगी। पुस्तक समर्पण बिल्कुल उपयुक्त हुआ है—स्वर्गीय पं० अर्जुनलालजी सेठी, स्व० जमनालालजी बजाज और श्रद्धेय विजयसिंहजी पथिक के नाम पर—और निस्सन्देह वर्तमान

* इस पुस्तक की भूमिका लिखने का आग्रहपूर्ण आदेश हमें क्यों दिया गया, हमारे लिए यह भी एक पहेली है।

राजस्थान के तथा इसके लेखक के भी निर्माण में इस त्रिमूर्ति का जबरदस्त हाथ है। पर इस पुस्तक के सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण अंश वही हैं जहां मोतीलाल, जयचन्द, छोटेलालजी, कुँवर मदनसिंह और पं० नयनूराम तथा प्रतापसिंह को स्मरण किया गया है। आज के अभागे ज़माने में, जब कि अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद की सत्तर वर्ष बूढ़ी मां गत सत्रह वर्षों से निस्सहाय अवस्था में अपने दिन काट रही है, प्रतापसिंहजी जैसे शहीदों की याद करने वाला कोई आदमी मौजूद है, इस बात से दिल को कुछ तसल्लीसी होती है। मालूम नहीं कि हमारे प्रधान मंत्री, पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी, एम. एल. ए. तथा नाना प्रकार के अन्य सरकारी अफ़सरों ने (जो अपने बलि-दानों का मोल तोल करके पद प्रतिष्ठा के अधिकारी बन गये हैं) अथवा पदों के लिये लालायित उन महानुभावों ने (जो अपने तथाकथित त्यागों का अत्युक्तिमय प्रदर्शन करके अपनी झूठी-सच्ची हुंडी भुनाने के लिए चिन्तित घूमते फिरते हैं) क्या हमारे इन भूरे शासकों ने मोतीचन्द और प्रतापसिंह जैसे शहीदों के नाम भी सुने हैं? भारतीय स्वाधीनता का वह इतिहास बिल्कुल अधूरा ही होगा—हम तो उसे नितान्त असत्य भी कहेंगे-जिसमें इन शहीदों का ज़िक्र न हो।

चौधरीजी ने प्रतापसिंह के विषय में लिखा है:—

"सच तो यह है कि महात्मा गांधी को छोड़कर और किसी पर मेरी इतनी श्रद्धा नहीं हुई जितनी प्रतापजी पर। वे देश

की खातिर हिंसा के पक्षपाती जरूर थे, लेकिन उनका दूसरा सारा व्यवहार किसी अहिंसावादी से कम न था। वे जहां रहते वहां का वातावरण सरलता, प्रेम और पवित्रता से भर देते थे।"

क्या ही अच्छा हो यदि ऐसे शहीदों के रेखा चित्रों का संग्रह सचित्र पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया जाय ! भोग तथा प्रमाद में फँसे हुए हम लोगों के लिये, जो किसी जंकशन स्टेशन के वेटिङ्ग रूम को अपना अन्तिम लक्ष्य या मंज़िले मक़सूद ही समझ बैठे हैं, वह ग्रन्थ अत्यन्त शिक्षाप्रद होगा और भावी नागरिकों के लिए पथप्रदर्शक। जिन भवनों में उन अमर शहीदों के तैल चित्र होने चाहिये थे, वहां निर्जीव राज प्रमुखों की कुर्सियां होंगी—किमाश्चर्यमतः परम ?

स्वयं चौधरीजी के पिछले जीवन के अनेक स्थल बड़े स्फूर्ति-प्रद हैं। भारत सरकार के होम मेम्बर सर रेजीनाल्ड क्रॉडक की हत्या के षड्यंत्र में मारवाड़ी वेष में उनकी हरद्वार यात्रा, प्रतापजी की खोज में हैदराबाद की मुसाफ़िरी और 'व्यंजन विलास कम्पनी' में बर्फ़ सोडा बेचने के साथ साथ 'ठोस काम' की तय्यारी। और इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है उनका सेवा संघ सम्बन्धी रचनात्मक कार्य। 'संघ के दस वर्षों का इतिहास' इस नाम का एक ग्रन्थ पथिकजी की सहायता से वही लिख सकते हैं। 'संघ' अब भी विद्यमान है—आस्तिकों के निराकार ईश्वर की तरह—और अपने जन पद के भूरे शासकों से लोहा

लेने के लिये शायद उसे निकट भविष्य में साकार रूप भी लेना पड़ेगा—चाहे इसके सदस्य दूसरे ही हों और भले ही उनके राजनैतिक विश्वास साम्यवादी या समाजवादी हों। पर हम इतने कृतघ्न नहीं कि संघ के उन गौरवपूर्ण दिनों को भूल जायँ जब पथिकजी के साथी संगियों ने अपना व्यक्तित्व संघ में विलीन कर दिया था और पथिकजी और संघ पर्याय वाची शब्द बन गये थे।

सन् १६२० या २१ की बात है:—

देशबन्धु सी० आर० दास के मकान पर महात्मा गान्धीजी व भारतभक्त ऐण्ड्रूज बातचीत कर रहे थे। वहीं बैठा हुआ मैं भी इस वार्तालाप को सुन रहा था। कुछ देर बाद मि० ऐण्ड्रूज ने कहा, "महादेव भाई कहाँ हैं?" महात्मा जी ने उत्तर दिया, "वे कहीं बाहर गये हुए हैं, क्या आपको उनसे कुछ काम है?" मि० ऐण्ड्रूज ने कहा, "पथिक के विषय में उनसे कुछ पूछना था, कौन हैं, कैसे आदमी हैं?" महात्माजी मुस्कराते हुए बोले:—

"I can tell you something about Pathik. Pathik is a worker while others are talkers. Pathik is a soldier, brave, impetuous, but obstinate. He was Mahadev's infallible guide in Bijaulia and the remarkable thing is that the masses of Bijaulia have implicit confidence in him."

"मैं आपको पथिक के बारे में कुछ बतला सकता हूँ। पथिक

काम करने वाला है; दूसरे सब बातूनी हैं। पथिक एक सिपाही आदमी है, बहादुर है, जोशीला और तेज मिज़ाज है लेकिन ज़िद्दी है। जब महादेव बिजौलिया गये तब पथिक उनके निर्भ्रान्त साथी थे। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि बिजौलिया की जनता का उन पर पूरा पूरा विश्वास है।" मनुष्य चरित्र के जितने उत्तम ज्ञाता महात्मा गांधी थे उतना शायद ही कोई दूसरा हो। Pathik is a soldier "पथिक एक सिपाही है" इन चार शब्दों में महात्माजी ने पथिकजी के सम्पूर्ण चरित्र का परिचय दे दिया था।

निस्सन्देह पथिकजी के लिये महात्माजी का यह सर्टीफिकेट सेवासंघ के उन कार्यकर्ताओं के लिये भी प्रमाण पत्र था जो बिना किसी पद या पुरस्कार की आशा के संघ में दिन रात परिश्रम कर रहे थे। मालूम नहीं कि हमारे पापूलर मिनिस्टरों को सेवासंघ के उन कार्यकर्ताओं के तप और त्याग का कुछ पता है भी या नहीं।

लेखक को अपने ५२ वर्षीय जीवन में जो विविध अनुभव हुए हैं उससे उनके मस्तिष्क को सन्तुलन मिला है और लेखनी को प्रौढ़ता। यद्यपि सीधी सादी जबान में उन्होंने अपने विचार जनता के सम्मुख रक्खे हैं—भाषा के साज शृङ्गार की उन्होंने कोशिश नहीं की, फिर भी कुछ स्थल ऐसे बन पड़े हैं, जो जानदार भाषा के उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। वास्तव में वह पृष्ठ बहुत प्रभावशाली है, जहां गान्धीजी के

सर्वोदय की तुलना विप्लववाद तथा साम्यवाद से की गई है। बारहवें अध्याय के कितने ही वाक्य बोलचाल की सजीव भाषा के जीते जागते नमूने हैं।

पृष्ठ १८६ से १८८ तक हरिजनों के विषय में जो कुछ लिखा गया है उसकी भाषा में ओज और प्रवाह दोनों हैं क्योंकि उसके पीछे एक स्पन्दनशील हृदय है।

चौधरीजी से हमारी एक शिकायत है, वह यह कि महात्माजी के निकट सम्पर्क में इतने दिन रहने के बाद भी उन्होंने इस ग्रन्थ में उनके बारे में कुल मिलाकर तीन चार पृष्ठ से अधिक नहीं लिखे ! फिर भी जो झाँकी महात्माजी के जीवन की उन्होंने दिखलाई है वह प्रशंसनीय है, वन्दनीय, स्मरणीय है।

पुस्तक का अन्तिम अध्याय 'अब क्या किया जाय ?' केवल राजस्थान के कार्यकर्ताओं के लिये ही नहीं, वरन् विन्ध्य प्रदेश तथा अन्य जनपदों के नेताओं के लिये भी पठनीय है। हाँ, जो कार्यक्रम उन्होंने तजवीज़ किया है, वह कितने अंश में व्यावहारिक है, इस प्रश्न का निर्णय राजनीति विशारद ही कर सकते हैं। हमारे लिये तो वह क्षेत्र सर्वथा अपरिचित है— 'वह रंग ही नया है, कूचा ही दूसरा है' पर एक क्षुद्र पत्रकार की दृष्टि से केवल एक बात हमें कहनी है। "राष्ट्र के कर्णधारों" में चौधरीजी की श्रद्धा हमें करुणोत्पादक प्रतीत हुई। बराय महरबानी चौधरीजी अपनी पुस्तक के २३५ वें पृष्ठ को एक बार फिर से पढ़ जायँ और फिर "सबल

केन्द्रीय हुकूमत" के गुण गान करने से बाज़ आवें। विकेन्द्रीकरण के आदर्श को पहुंचने के लिये 'केन्द्रीकरण' के मार्ग की सिफ़ारिश करना मानो सतीत्त्व रक्षा के लिये स्त्रियों को दाल की मंडी और चितपुर रोड भेजना है !

पर इस विषय पर हम बन्धुवर चौधरीजी से बहस नहीं करेंगे। 'भिन्न रुचिर्हिलोकः'। अन्त में हम उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं कि उन्होंने अन्य जनपदीय कार्यकर्ताओं के लिये एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया है-भावी इतिहास लेखक के लिये अमूल्य मसाला इकट्ठा कर दिया है—और एक ऐसी पुस्तक लिख दी है जो राजस्थान के विद्यालयों में पाठ्य पुस्तक के रूप में पढ़ाई जानी चाहिये, ताकि हमारी नवीन पीढ़ी अपने अर्वाचीन इति· हास से परिचित हो जाय।

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही लिखा है, स्वाधीनता की पहली मंज़िल ही हमने पार की है, और कई मंज़िलें अभी बाक़ी हैं। महात्माजी का रामराज्य अभी सैकड़ों वर्ष के फ़ासिले पर है— 'राज्य' नामक विषैले वृक्ष की सूखी पत्तियों के झड़ने में और उसके जड़ से उखड़ने में शताब्दियों की देर है। जिस आदर्श स्थिति और अवश्यंभावी युग की कल्पना बाकूनिन और क्रोपाट· किन, लैनिन और सर्वोपरि गांधीजी ने की थी वह अभी बहुत बहुत दूर है और उसको निकट लाने के लिये लाखों ही व्यक्तियों को अपने जीवन का बलिदान देना होगा।

देश की स्वाधीनता के प्राचीन, अर्वाचीन और नवीन इतिहास

में राजस्थान ने अपने तप, साधना तथा त्याग से सदैव एक विशेष स्थान रक्खा है। वह उस गौरवपूर्ण पद को भविष्य में भी सुरक्षित रक्खे, यही हमारी कामना है।

गांधी भवन
टीकमगढ़
२४·७·४८

बनारसीदास चतुर्वेदी

ऐंग्लोइंडियनों का ही बोल बाला था। वे रिश्वतें भी ख़ूब खाते थे। रेल्वे के माल की चोरी करने का कर्मचारियों में आम रिवाज था।

पुष्कर में हिन्दुओं का तीर्थ और अजमेर में ख्वाजा साहब की दर्गाह होने के कारण धार्मिक श्रद्धा के साथ अंध-विश्वास, भिखमंगापन और दूसरी खराबियां फैली हुई थीं। खादिमों व पण्डों के दो निठल्ले वर्ग समाज पर भार बने हुए थे।

मेयो कॉलेज हमारे राजाओं और उमरावों के लड़कों को अंग्रेजी सभ्यता के सांचे में ढाल रहा था, उन्हें विदेशी शासकों की ग़ुलामी, अपनी प्रजा की उपेक्षा, आचारहीन जीवन, राष्ट्रीयता के विरोध और ऐश आराम की जिन्दगी बिताने की शिक्षा दी जा रही थी। स्वतंत्र विचारों और अच्छे प्रभावों की वहां पहुँच नहीं होने दी जाती थी। हमारे राजाओं की ज्यादातर बुराइयों की जड़ यही तालीम है।

समाज की हालत

समाज में कुरीतियां ख़ूब फैली हुई थीं। ग़रीब राजपूतों में कन्यावध होता था। ब्राह्मण और वैश्यों में और उससे भी ज्यादा छोटी और अछूत समझी जानेवाली जातियों में बच्चों की शादी का रिवाज ख़ूब था। ऊंचे कहलाने वाले वर्णों में विधवा विवाह की मनाई थी। वृद्धों के ब्याह और लड़कियों के बेचने के रिवाज बढ़ते जा रहे थे। शादी, ग़मी और दूसरे सामाजिक रस्मोरिवाज

पर झूठी बड़ाई की खातिर बूते से अधिक खर्च होता था। क़र्ज़-दारी फैलती जा रही थी। खान-पान, रहन सहन और स्वास्थ्य की तरफ़ से सरकार और प्रजा दोनों उदासीन थे और रोग बढ़ते जा रहे थे। राजवर्गी लोगों में परदे की प्रथा थी। उनकी देखादेखी और सरकारी जमातें भी झूठी प्रतिष्ठा के लोभ में यह कुप्रथा अपना रही थीं, छुआछूत का ज़ोर था। विलायत यात्रा की बिरादरी से मनाही थी। आम लोगों में लड़कियों को पढ़ाने का शौक़ पैदा नहीं हुआ था।

लेकिन जनता के सामाजिक जीवन पर पुरानी देहाती सभ्यता की छाप बहुत कुछ बाक़ी थी। जात पाँत का भेद भाव कुछ बातों में सख्त होते हुए भी इंसान की बराबरी, आपस के भाईचारे और सहयोग की भावना बनी हुई थी। गाँव भर की भलाई के मामलों में ऊँचनीच सभी की सलाह ली जाती थी। ब्याह और मौसर में सभी काम काज और रुपये पैसे से एक दूसरे की मदद करते थे। चमार की लड़की को पंडितजी अपनी बेटी कह कर पुकारते थे और सेठजी की बहुयें मेहत-रानी को भी काकीजी या ताईजी के नाम से पुकारती थीं। एक के घर जँवाई आता तो सभी खुशी मनाते थे। घर में कहीं से सौगात आती या विशेष भोजन बनता तो पड़ोसियों में बाँट कर न खाना बुरा समझा जाता था। किसी के घर गाय भैंस दूध देती हो तो जिनके यहां पशु न हों या सूख गये हों वे निःसंकोच छाछ ले जाते थे। मौत होने पर दाह क्रिया के लिये

लकड़ियां तक श्मशान यात्रा में जाने वाले अपने घर से कन्धों पर रख कर ले जाते थे। गाँव में बहुत से मेहमान इकट्ठे आ गये तो दो दो चार चार अतिथि हर गृहस्थ बाँट लेता था। किसी के घर बीमारी आती तो दूसरे सभी घरों से हाल चाल पूछने कोई न कोई जरूर पहुँच जाता था। अनाथ या विधवा के हल चलाने और फसल काटने में सभी हाथ बँटाते। घर की मालकिनें नौकरों को खिलाती थीं उनकी हैसियत के माफ़िक़ ही, मगर खिलाती सबसे पहले थीं। घुरिये बोहरे— आसामी साहूकार का सम्बन्ध शोषण का होने पर भी आपस में कम से कम कष्ट देने का लिहाज़ रखा जाता था। मुक़दमेबाजी का आश्रय लेकर बिगाड़ने के बजाय एक दूसरे को बनाने की अधिक कोशिश की जाती। दान पुण्य, नियम व्रत, कथा वार्ता और तीर्थ यात्रा की रुचि क़ायम थी और आरती के समय मंदिरों में खासी भीड़ होती थी। बड़े छोटे का लिहाज़ था और सम्मिलित परिवार की संस्था ढीली होने पर भी खड़ी थी। लेकिन इस शुद्ध और प्रेम से भरे वातावरण में बाहर से आने जाने वाले भाँति भाँति के राजकर्मचारियों द्वारा दुराचरण, फूट और स्वार्थ के बीज बोये जाने शुरू हो गये थे।

धनवान अपने अपने नाम के लिये कलकत्ते बम्बई से लाया हुआ पैसा एक तरफ़ धर्मशालाओं, कुए-बावड़ियों और पाठ-शालाओं पर खर्च करते थे और दूसरी तरफ़ आलीशान हवे-लियाँ खड़ी करने, शादी गमी में फ़िज़ूल खर्च करने या मुक़दमे-

बाज़ी करके दूसरों पर रुआब जमाने में लगाते थे। कुछ लोगों का ध्यान स्कूलों, पुस्तकालयों और अस्पताल वग़ैरा की तरफ़ भी जाने लगा था।

जनता की भाषा राजस्थानी और राजभाषा जयपुर में उर्दू और कई राज्यों में भी लिपि नागरी और ज़बान उर्दू थी। अंग्रेज़ी का प्रचार बढ़ रहा था।

शिक्षण संस्थाओं का यह हाल था कि हमारा महाराजा हाई स्कूल रियासत भर में प्रमुख होने पर भी उसमें कोई अच्छा वाचनालय या वादविवाद समिति न थी और न कोई अध्यापक या बाहर के मेहमान सार्वजनिक विषयों पर व्याख्यान देते थे। मेरी गिनती होशियार विद्यार्थियों में थी, मगर मैट्रिक पास कर लेने तक मैंने किसी अख़बार की सूरत नहीं देखी थी। 'नेकी-बदी' जैसे निर्दोष नाटक खेलने के लिये प्रिंसिपल साहब को ठेठ कौंसिल की मंजूरी लेने की जरूरत पड़ी और वह भी न मिली।

दूसरा अध्याय

क्रान्तिकारी ज़माना

सन् १६१२ की बात है। मैंने सोलहवें साल के साथ ही इंटर क्लास में क़दम रखा। गर्मी की छुट्टियों में कलकत्ते का 'टेलीग्राफ़' नामक अंग्रेज़ी साप्ताहिक देखा। मेरे लिए अख़बार के ये पहले दर्शन थे। शुरू में तो मेरी दिलचस्पी अंग्रेज़ी भाषा की योग्यता बढ़ाने में ज्यादा थी, मगर बाद में समाचारपत्रों का चस्का सदा के लिये लग गया। फिर भी देश-प्रेम की दीक्षा नहीं मिली। वह मिली १६१३ के जुलाई मास में। मुझे अपने छोटे भाई युगलकिशोर को स्कूल में भर्ती करवाना था। महाराजा हाई स्कूल में जगह नहीं थी। पं० अर्जुनलाल सेठी का नाम सुन कर उन्हीं की जैन वर्द्धमान पाठशाला में भाई को लेकर पहुंचा। एक पुराने ढंग के नोहरे में सेठीजी से पहली मंज़िल के झरोखे पर मुलाक़ात हुई।

पहली ही भेंट का ख़ूब असर पड़ा। हमारे स्कूल व कालेज में पोशाक तो सभी अध्यापकों और अधिकांश विद्यार्थियों की देशी ही थी, मगर शौक़ीनी में बहुतेरे एक दूसरे से होड़ लगाते थे। यहाँ आचार्य महोदय एक मोटे झोटे कुर्ते में बैठे थे। प्रकाश

नामक एक जौहरी का पाँच छः साल का लड़का वहीं लकड़ी के खिलौने से मकान बना रहा था और 'स्वदेशी का बजे डंका' 'स्वदेशी का बजे डंका' गुनगुना रहा था। सेठीजी ने हम दोनों भाइयों को देखा और बालक से पूछा, 'बेटे, क्या बना रहे हो?' फ़ौरन जवाब मिला, "अंग्रेजों को निकालने के लिये किला!" सेठीजी की तेज़ आँखों ने बालक के शब्दों का असर मेरे चेहरे पर देखा और कहा, 'आप चाहें तो भाई को मेरे पास छोड़ जाइये। यह पाठशाला में पढ़ेगा और छात्रालय में रहेगा। खर्च की चिन्ता मैं ही कर लूंगा।" मेरे लिये यह चुपड़ी और दो दो वाली बात थी। मैं उत्तर भी न देने पाया था कि पाठशाला की घंटी बजी। हम दोनों भाई भी उनके साथ चौक में जा खड़े हुए। प्रार्थना क्या थी, पराधीन भारत के हृदय की पीड़ा, स्वतन्त्रता देवी के आवगहन और कर्मण्यता की पुकार का सजीव गान था। मन ने उसी घड़ी ठान लिया कि जीवन भारत माता की गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ने में ही क़ुर्बान होगा। ३० वर्ष के इस लम्बे अर्से में बहुत से उतार चढ़ाव आये, मगर उस दिन के निश्चय में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। इतना प्रबल था वह मंत्र। युगलकिशोर सेठीजी की छत्रछाया में रहने लगा। मैंने देखा कितना जबरदस्त अन्तर है सरकारी तालीम और राष्ट्रीय शिक्षा में। एक महाराजा कॉलेज था जहाँ देश-भक्ति की गंध भी छू न पाती थी, नैतिक वातावरण गंदा था, नौकरी ही वहाँ के पढ़ाने और पढ़ने वालों का एक मात्र ध्येय था, प्रिंसि-

पल से लगा कर पहले वर्ग के शिक्षक तक छड़ी, जुर्माना और डांट फटकार से काम लेते थे। दूसरी ओर सेठीजी का विद्यालय था जहाँ छोटे छोटे बच्चों को 'आप' कह कर पुकारा जाता था, प्रेम, स्वातंत्र्य और कौशल ही अध्यापकों के अस्त्र थे, किंडरगार्टन ढंग से पढ़ाई होती थी, राष्ट्रीयता की सुगन्ध वहां के सारे वायुमंडल में समाई हुई थी और समाज और देश की सेवा ही विद्यार्थी के जीवन का मकसद बनाया जाता था। शिक्षक खुद आचरण से त्याग का पाठ पढ़ाते थे। मुझे याद है सीनियर इण्टर में जब प्रोफेसर ने एक दिन 'देश-प्रेम' पर बहस रखने की सूचना दी तो प्रिंसिपल साहब को उसमें राजनीति की बू आई और वह विषय नहीं रखने दिया। जैन वर्द्धमान पाठशाला में ऐसी चर्चाएं रोज होती थीं। एक समय तो राज्य को भीरुता यहाँ तक बढ़ी कि बम बनाने डर से कालेज में कई साल तक सायंस की पढ़ाई बंद रखी गई।

इधर तो यह हाल था कि जब फ़ुर्सत मिलती सेठीजी का खयाल आता और मैं रोज उनके यहाँ जाने लगा। उधर उन्होंने भी एक युवक को मुझसे संसर्ग बढ़ाने के लिए मुक़र्रर कर दिया। उन्हीं दिनों स्व० छोटेलाल जैन हार्डिंज बमकेस से छूट कर दिल्ली से जयपुर लौट आये थे। वे मेरे सहपाठी थे। उनसे घनिष्टता होने में देर न लगी। ये दोनों बाग में ले जाते, क्रांतिकारियों के क़िस्से सुनाते, सेठीजी के कार्य का हाल बताते और जोशीली पुस्तकें पढ़ने को देते।

सेठीजी के जीवन के हाल चाल ने मुझ पर काफी असर किया। वे जयपुर कालेज के तेजस्वी ग्रेजुएट थे। अंग्रेजी के अलावा हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी और पाली भाषा के पण्डित थे। जैन धर्म के गहरे विद्वान्, तेज सुधारक और जैन समाज की नई पीढ़ी के नेता थे। उस हैसियत से उनकी धाक भारत भर में थी। वे प्रभावशाली वक्ता थे। देशियों में उस समय जयपुर में बिरले ही सेठीजी के सानी थे। वे चाहते तो राज्य के ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँच सकते थे। एक अच्छा ओहदा उन्हें पेश भी किया गया था, मगर वे तो भारत माता की सेवा का व्रत ले चुके थे। उसी व्रत को पूरा करने में उन्होंने अपनी उम्र का सबसे अच्छा और बहुत बड़ा भाग पूरा किया। सेठीजी के संसर्ग में मुझे पहले पहल गीता, स्वामी रामतीर्थ के व्याख्यान, सावरकर की 'वार आफ़ इंडियन इंडिपेंडेंस', अरविन्द का 'कर्मयोगी' व 'युगान्तर', देउस्कर की 'देश की बात', डिग्वी की 'प्रास्पेरस इण्डिया' और वंकिम बाबू का 'आनन्द मठ' वगैरा पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। इस साहित्य ने अध्यात्म, इतिहास और राष्ट्रीयता का ज्ञान कराने के साथ-साथ अंग्रेजी राज्य के अन्याय और उसे उखाड़ फेंकने के संकल्प को मेरे मानस पटल पर अमिट रूप से अंकित कर दिया।

जयपुर में मैं जिस मकान में रहता था वहां चार पांच विद्यार्थी और भी रहते थे। ज्यादातर उम्र में बड़े मगर पढ़ाई में मुझसे पीछे थे। मैं उन्हें पढ़ने लिखने में सहायता दिया

करता था। मैंने उन्हीं में जोशीली बातों और विप्लव साहित्य का प्रचार शुरू कर दिया और एक छोटी सी मंडली बना ली। इस बीच में सेठीजी की संस्था का विस्तार हो चला था और वे उसे मुख्य दानी की इच्छा पर इन्दौर ले गये। उनकी गैर मौजूदगी में जयपुर के क्रांतिकारी दल की बागडोर बा० ब्रजमोहनलालजी के हाथों में आ गई थी। ये दिल्ली के कायस्थ, जयपुर के स्कूल आफ आर्ट्स के वाइस प्रिंसिपल और हार्डिंग बम केस के मुखिया मास्टर अमीरचन्द व लाला हरदयाल के मित्र थे। प्रचारक थे, लेकिन संगठन की शक्ति बहुत नहीं थी। इस समय १९१४ का महायुद्ध छिड़ गया। उससे पहले क्रांतिकारी दल की राजपूताना शाखा संगठित हो चुकी थी। सेठीजी उसके नेता थे। कोटा के स्व० ठा० केसरीसिंहजी बारहठ, खरवा के राव गोपालसिंहजी और ब्यावर के सेठ दामोदरदासजी राठी इस संगठन के स्तंभ थे। सेठीजी के जिम्मे युवकों को तैयार करने और शिक्षितों में प्रचार करने का विशेष काम था। जैन समाज उनका मुख्य कार्य क्षेत्र था। उसके साधनों से वे राष्ट्रीयता की साधना करते थे। उन्होंने महाराष्ट्र और काश्मीर जैसे दूर दूर के प्रांतों से चुन चुन कर नौजवान इकट्ठे किये थे। वे कैसे जीवट के लोग थे, इसके दो दृष्टान्त मुझे याद हैं। श्री० मोतीचन्द उस युवक दल के अगुआ थे। एक बार उनका ऑपरेशन हुआ। डा० दलजंगसिंह की राय में वह इतना गंभीर था कि क्लोरोफार्म सुंघाये बिना चीरा लगाने की उनकी हिम्मत न हुई। मोतीचन्द का

आग्रह यह था कि होश में ही चीर फाड़ की जाय। आखिर वैसा ही हुआ और मोतीचन्द ने उफ़ तक नहीं की! डाक्टर दांतों तले उंगली दबा कर रह गया। आरा के महन्त की हत्या के अभियोग में जब उन्हें फांसी लगी तो कहते हैं बलिदान की खुशी में उनका कई पौंड वज़न बढ़ा हुआ पाया गया, लेकिन असली अपराधी तो थे जयचन्द जो अखीर तक पुलिस के हाथ न आये। उनके साथ मेरा गहरा सम्बन्ध हो गया था। उनका क़िस्सा विचित्र था। वे काश्मीर राज्य के पूंछ ठिकाने में किसी छुटभैया के लड़के थे। एक दूसरे युवक के साथ अनन्य मित्रता हो गई। प्लेग आया तो दोनों में क़ौल क़रार हुआ कि जो बच रहे वह घर से निकल पड़े और उम्र भर अपने साथी के लिए तपस्या करे। जयचंद बच गये। सीधे हरिद्वार पहुँच कर जाड़े में गंगा में और गर्मी में बालू रेत में तपस्या करने लगे। गाने का शौक़ था। एक दिन सेठीजी का वहाँ भाषण था। उसमें संगीत का भी कार्यक्रम था। जयचंद कोने में बैठे सुन रहे थे। सेठीजी की पारखी दृष्टि ने उन्हें पहिचान लिया कि काम का आदमी है। साथ ले आये। वह निर्भय इतने थे कि कई बार वारन्टधारी पुलिस के बीच से निकल गये। चलने में इतने तेज कि एक दिन घुड़सवार पुलिस का पीछा बचाते हुए ७० मील तय करके शाम को मेरे पास पहुँच गये। दो मंज़िल से कूद कर भाग जाने का उन्हें इतना पक्का विश्वास था कि हमारे

प्रबल आग्रह पर भी वे धीरे बोलने या दूसरी सावधानी रखने को तैयार न होते थे।

बारहठ केसरीसिंहजी का कार्यक्षेत्र राजपूताने के रईसों और जागीरदारों में था। उदयपुर, जोधपुर और बीकानेर में इनका काफ़ी प्रभाव था। चारणों में तो उन्होंने कई क्रांतिकारी तैयार कर दिये थे। कुछ राजा और बड़े उमराव भी सहानुभूति रखते थे। एक दो आदमियों के दिमाग़ में राठौर साम्राज्य स्थापित करने की कल्पनाएं भी घूमने लगीं।

राव साहब खरवा का कार्यक्षेत्र छोटे जागीरदारों और भोमियों में था। अजमेर मेरवाड़ा और मेवाड़ में इनकी प्रवृत्तियों का केन्द्र था। हथियार इकट्ठे करना इनका ख़ास काम था। पथिकजी राव साहब के दाहिने हाथ थे। उस समय वे भूपसिंह के नाम से रहते थे।

सेठ दामोदरदासजी धनी थे। क्रांतिकारी आंदोलन को रुपये की मदद देना इनका ख़ास काम था। जन्म से वैश्य होकर भी ग़ज़ब के साहसी थे। बा० श्यामजी कृष्ण वर्मा और अरविन्द बाबू को इन्होंने जोखम उठा कर अपने यहाँ ठहराया था। इन्होंने राजस्थान में स्वदेशी की भावना को मूर्त रूप देने के लिये ब्यावर में कपड़े का पहला कारखाना खोला और बा० संचेतन गंगोली जैसे देशभक्त को उसका मैनेजर बनाया।

महायुद्ध छिड़ने पर सेठीजी नज़रबंद कर के पहले जयपुर

जेल में रखे गये और बाद में मद्रास प्रांत के वैलोर जेल में भेज दिये गये। उनके कई युवक अनुयायी गिरफ्तार या फ़रार हो गये। बारहठजी को आरा व जोधपुर के मामलों में लंबी सज़ा हो गई। शाहपुरा के 'आर्य नरेश' नाहरसिंहजी ने उनकी जागीर व कोठी ज़ब्त कर ली। उनके छोटे भाई जोरावरसिंह लापता हो गये। खरवा राव साहब और पथिकजी टाडगढ़ के क़िले में नज़रबंद कर दिये गये; बाद में पथिकजी तो चुपके से मेवाड़ में निकल गये और राव सा० अजमेर जेल में रख दिये गये सेठ दामोदरदासजी भी चल बसे। बाकी रहे बारहठजी के बड़े लड़के प्रतापसिंह, छोटेलालजी जैन और जयपुर की हमारी मण्डली। हमारे सलाहकार भले ही बाबू बृजमोहनलालजी थे, मगर असली सेनानी छोटेलालजी थे। नौजवानों को बातों से क़ुरबानी और प्रत्यक्ष काम ज्यादा भाता है। छोटेलाल जी थे भी बड़े सख्त आदमी। वे न अपने को बख्शते और न औरों को। जाड़े के दिनों में तड़के ही हमारा द्वार खटखटाते, जौहरी बाज़ार से सूरजपोल तक दौड़ाते और घाटी चढ़ा कर गल्ता के कुंड में तैराते। इस तालीम से हमारा जोश ज्यूँ ज्यूँ बढ़ता गया, त्यूँ त्यूँ कुछ कर गुज़रने की चाह भी बढ़ती गई। छोटेलालजी की राय हुई कि सेठीजी को जयपुर जेल से निकाल ले जाने की योजना बनाई जाय। बाबूजी ने इसे 'ख़याली पुलाव समझा। इसमें तरह तरह के जोड़ तोड़ वाले साहस का कोई आदमी भी न था। बाबूजी ने एक होटल खोल कर उसके द्वारा

पश्चिम के ढङ्ग पर काम करने की कल्पना दी। छोटेलालजी को वह पसन्द न आई. महात्मा गांधी का खुला क्रांतिवाद उन्हें खींच चुका था। वे साबरमती चले गये। हमारी 'व्यंजन विलास कम्पनी' खुल गई। एक साथी को स्कूल छुड़ा कर मैनेजर बना दिया। जयपुर में उस समय नागरिक स्वतंत्रता की कैसी दुर्दशा थी, इसका अंदाज़ इसी बात से लगाया जा सकता है कि हमें 'बर्फ़सोडा बेचने के लिये ठेठ कौंसिल से मंजूरी लेनी पड़ी।

उन्हीं दिनों हमारे दल में एक जैन वकील शरीक़ हुए। दुबले-पतले और चिर रोगी थे, परन्तु ग़ज़ब की कष्ट-सहिष्णुता का परिचय दिया। बात यह हुई कि १९१५ में हम लोगों ने जयपुर के रेज़ीडेन्ट और राज्य के प्रधानमन्त्री के खिलाफ़ एक पर्चा बांटने का निश्चय किया। उसे मैंने लिखा, जैन वकील ने साइक्लोस्टाइल पर छापा और मैनेजर ने वितरण किया। मेंह आँधी की रात थी, वह दो बजे उठा। एक कंबल ओढ़ा और कोट की जेब में पर्चे और एक हाथ में लेई का डिब्बा लेकर चल पड़ा। दिन निकलने से पहले पहले वह काम करके लौट आया। सुबह होते ही शहर में सनसनी फैल गई। स्कूल, कॉलेज, कौंसिल, महलों के दर्वाज़ों, कोतवाली और मुख्य-मुख्य रास्तों के नुक्कड़ पर पर्चा चिपका हुआ था। नई चीज़ थी; जगह-जगह झुंड के झुंड पड़ रहे थे। पुलिस के आने व पर्चे उखाड़ ले जाने से पहले हमारा काम सफलता के साथ हो चुका

था । बड़ी दौड़-धूम हुई । मगर अपराधियों का पता न चला। बहुत अर्से बाद वकीलजी के यहाँ साइक्लोस्टाइल पकड़ा गया। सवा लाख की बस्ती में किसी दूसरी ग़ैर सरकारी जगह वैसी मशीन नहीं थी। वकीलजी को पुलिस ने खूब यातनाएं दीं, परन्तु सब कुछ सह कर भी उन्होंने भेद ज़ाहिर नहीं किया।

जयपुर में यूँ तो सभा सोसाइटियों की मुमानियत थी, परन्तु अंग्रेज़ों के लिए सब छूट थी। मिशन हाई स्कूल के प्रिंसिपल पादरी लो साहब धड़ल्ले से एक डिबेटिंग क्लब चलाते थे। मुख्य उद्देश्य तो था ईसाई धर्म और उसकी आड़ में साम्राज्यवाद का प्रचार करना, लेकिन आदमी होशियार और साधारण व्यवहार में सज्जन और परोपकारी थे। इन दो गुणों के कारण युवक उनकी तरफ़ खिंचते थे। हमारे बाबूजी की तेज़ बुद्धि ने यह देख कर हमें भी उधर लगा दिया। हम भी क्लब में जाने लगे और थोड़े दिन में वहाँ की हवा काफी पलट दी।

१९१५ का साल शुरू हुआ ही था कि एक दिन अंधेरे अंधेरे छटेलालजी कंपनी में एक ऐनकधारी युवक को लेकर आये। छोटी-छोटी आँखें, साँवला रंग और ठिगना क़द था। ये प्रतापसिंह थे। उन दिनों हिन्दुस्तानी फौज में ग़दर की तैयारी की जा रही थी। इसके संयोजक बा० रासबिहारी बोस थे। उनका केन्द्र बनारस था। एक खास काम के लिए उन्होंने श्री० शचीन्द्र सान्याल को दिल्ली भेजा था। प्रतापसिंह उनके साथ थे। इसी ख़ास काम में एक संदेश ले जाने वाले की

जरूरत थी। छोटेलालजी की सलाह से प्रतापजी ने मुझे पसंद किया। दूसरे ही दिन प्रतापजी और मैं दिल्ली के लिए रवाना हो गये। शहर के पुराने हिस्से में एक मकान की पहली मंजिल पर पहुंचे तो एक गठीले जवान ने हमारा स्वागत किया। यह शचीन्द्र थे। एक कोठरी में अखबार बिछे थे। यही उनका बिस्तर था। शाम तक मुझे योजना का पता लग गया। वह यह थी कि भारत सरकार के होम मेम्बर सर रेजीनाल्ड क्रॉडक को गोली का निशाना बनाया जाय, यह काम करें जयचन्द और मैं उन्हें हरद्वार से बुला लाऊँ। संकेत यह था कि जैसे ही क्रॉडक साहब वाली घटना के समाचार प्रकाशित हों, मेरठ वगैरह की भारतीय सेना विद्रोह कर दे। जहां तक मुझे याद है इसके लिए २५ फरवरी १६१५ की तारीख मुकर्रर हुई थी। अस्तु मैं रात की गाड़ी से हरद्वार के लिए चल पड़ा। भारत रक्षा क़ानून का शिकंजा इतना कड़ा था कि हर जगह पुलिस किसी नौजवान को देखते ही संदेह करती और उसे पूछ ताछ किये बिना आगे न बढ़ने देती। लेकिन मुझे मारवाड़ी भेष भाषा ने अच्छा काम दिया। हरद्वार में उन दिनों कुँभ का मेला था, परन्तु काली कमली वाले बाबा का स्थान ढूंढने में विशेष अड़चन नहीं हुई। हमारे जयचन्द बाबा के दाहिने हाथ बन बैठे थे। देखते ही लिपट गये। लेकिन मेरे साथ दिल्ली चलने में असमर्थता प्रगट करते हुए बोले, 'मैंने यहां एक अच्छा दल तैयार

कर लिया है। अभी कल परसों ही एक सफल डाका डाला है। हाथमें लिया हुआ काम छोड़ कर जाना ठीक नहीं। हां,चाहो तो पांच दस हजार रुपया ले जाओ। डाके का माल भी है और बाबा का भंडार भी भरपूर है।' धन लाने की मुझे आज्ञा न थी। मैं खाली हाथ वापस आ गया। शचीन्द्र और प्रतापजी को निराशा हुई। जो काम जयचन्द के सुपुर्द होने वाला था वह प्रतापजी को सौंपा गया। मगर संयोग से क्राडक साहब मुक़र्रर तारीख को बीमार हो जाने से बाहर नहीं निकले और बच गये। मैं उसी रात जयपुर लौट आया।

इधर हमारी कम्पनी कुछ चली चलाई नहीं और न उसके जरिये जो 'ठोस' काम सोचा गया था वही हुआ। हम उसे उठा देने की सोच ही रहे थे कि प्रतापजी पर बनारस षड्यन्त्र के सिलसिले में वारण्ट निकल गये और वे भाग कर हैदराबाद (सिन्ध) में जा छिपे। खुफिया पुलिस तलाश करती हुई जयपुर पहुँची और एक ओसवाल गृहस्थ के पीछे पड़ी। कमजोरी में आकर उन्होंने हैदराबाद तो बता दिया, मगर फिर संभल कर सिंध के बजाय निजाम की राजधानी का पता दे दिया। डिप्टी सुपरडंट पाने यह सुराग़ पाकर दक्षिण की तरफ रवाना हुए। इधर हमारी मंडली को प्रतापजी को बचाने की फ़िक्र हुई। इस बार भी मुझ को चुना गया। मारवाड़ी पोशाक में चल पड़ा। मुझे हिदायत थी कि मारवाड़ के भीनमालिया स्टेशन पर उतर कर चारणों के गांव पाचेटियां में पहले तलाश

कर लूं। शायद प्रतापजी वहां हों। हमारे देहाती समाज में अनजान लोगों से खूब पूछ ताछ होती है। इससे मेरे काम में बड़ी बाधा पड़ रही थी। आखिर एक क़िस्सा घड़ लिया और जो कोई पूछता उसी को सुना कर पिंड छुड़ाता। गांव के निकट पहुंचते पहुँचते मालूम हो गया कि जिस घर पर प्रतापजी ठहरा करते थे उसे पुलिस ने घेर रखा है। मैं समझ गया कि पंछी अभी पकड़ में नहीं आया है, मैं व्यर्थ में क्यों फँसूं? मैंने सिंध की राह ली। हैदराबाद पहुंच कर दिन भर की खोज के बाद प्रतापजी से भेंट हुई। उन्होंने एक खानगी दवाखाने में कम्पौण्डर की जगह काम शुरू कर दिया था और फ़ुरसत के समय वाचनालयों में जाने वाले नौजवानों में क्रान्तिकारी प्रचार करने लग गये थे। दूसरे ही दिन हम दोनों बीकानेर के लिये चल पड़े। सोचा यह था कि मैं तो राजधानी में कोई नौकरी कर लूँगा, प्रतापजी कहीं देहात में जा बसेंगे और दोनों मिल कर विप्लववादी दल खड़ा करेंगे। थोड़ी सहूलियत भी थी। मेरे एक चचा बीकानेर कौंसिल में रेवेन्यू सेक्रेटरी थे और गांवों में प्रतापजी के कुछ सम्बन्धी रहते थे। लेकिन एक ग़लती ने योजना पर पानी फेर दिया। जोधपुर स्टेशन पास आया तो प्रतापजी की इच्छा आशानाडा स्टेशन पर उतर कर वहां के स्टेशन मास्टर से मिल लेने की हुई। वह दल का सदस्य था। मगर कुछ दिन पहले उसके यहां बम का पार्सल पकड़ा जा चुका था और वह अपनी खाल बचाने को पुलिस का मुख़बिर बन

गया था। इसकी हमें किसी को खबर न थी। तय यह हुआ कि मैं जोधपुर उतर कर शहर देख लूँ और दूसरे दिन शाम की गाड़ी से बीकानेर के लिये चल पड़ूँ। रास्ते में आशानाडा के प्लेटफार्म से प्रतापजी को 'माधो' के नाम से पुकारूँ। अगर कोई जवाब न मिले तो समझ लूँ कि प्रतापजी फ़िलहाल देहात में घुस गये हैं और मैं बीकानेर पहुँच कर उनका इंतज़ार करूँ। लेकिन प्रतापजी तो आशानाडा उतरते ही गिरफ़्तार कर लिये गये थे। मेरी आवाज़ का कोई असर न देख कर मैं बीकानेर पहुंच गया।

चचा ने बड़े प्रेम से स्वागत किया और कोई जगह दिलवाने का आश्वासन दिया। कोई एक सप्ताह गुज़र गया, परन्तु प्रतापजी का कोई समाचार न मिला।

इधर हरिद्वार की कारगुज़ारी के सिलसिले में मुझे प्रतापजी ने बोस बाबू की तरफ़ से जो घड़ी और शाल भेंट की थी वह चोरी चली गई। ये पुरस्कार मुझे बहुत प्रिय थे। प्रतापजी के वियोग की पीड़ा भी कम न थी। वह आदमी ही ऐसा प्यारा था। जितने विप्लववादी देशभक्तों से मेरा परिचय हुआ उनमें प्रताप की छाप मुझ पर सबसे अच्छी पड़ी थी। वे बड़े कोमल स्वभाव के, निहायत शिष्ट और सदा खुश रहने वाले जीव थे। गीता को उन्होंने जिस रूप में समझा था उसी के अनुसार उनकी सारी चेष्टायें होती थीं। धन और स्त्री की इच्छा को उन्होंने ख़ूब जीता था। शरीर इतना सधा हुआ था कि

जयपुर में जब वे मेरे पास रहे थे तो एक बार लगातार ७२ घंटे जागते रहे और बिना खाये पिये बराबर काम करते रहे, और फिर सोये तो तीन दिन तक उठने का नाम नहीं लिया। गल्ता के कुण्ड में घंटों तैरते भी उन्हें देखा। सच तो यह है कि महात्मा गांधी को छोड़ कर और किसी पर मेरी इतनी श्रद्धा नहीं हुई जितनी प्रतापजी पर। वे देश की खातिर हिंसा के पक्षपाती जरूर थे, लेकिन उनका दूसरा सारा व्यवहार किसी अहिंसावादी से कम न था। वे जहाँ रहते वहीं का वातावरण सरलता, प्रेम और पवित्रता से भर देते थे। मेरा विश्वास है कि वे जिंदा रहते तो गांधीजी के एक खास साथी होते।

हाँ, तो पुरस्कार और प्रतापजी को खोकर उस दिन रंज ही रंज में मैंने आशानाडा के स्टेशन मास्टर को प्रतापजी की पूछ-ताछ का एक खत लिख डाला। लिखने में सावधानी तो काफ़ी बरती थी, मगर पुलिस के लिए इतना सा धागा काफ़ी था। तीसरे दिन एक बाबाजी मेरे कमरे के चारों तरफ़ चक्कर काटते हुए दिखाई दिये और चौथे रोज सी० आई० डी० के एक इंस-पेक्टर आ धमके। उनके पास मेरी गिरफ़्तारी का सामान था। बनारस षड्यंत्र के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ा गया। चचा बहुत घबराये। वे पुराने ढंग के राजभक्त आदमी थे, मगर उतना ही मुझ पर स्नेह रखते थे। अपने द्वार पर मेरा गिरफ़्तार होना वे अपने लिये बड़ी बदनामी की बात समझते थे। इन्स्पेक्टर थे

राजस्थान के जाने पहचाने व्यास मगनराजजी। उन्हें मैंने जो क़िस्सा घड़ कर बताया उस पर तो उन्हें क्या विश्वास होता, परन्तु चचा के बड़े ओहदे का लिहाज़ और उन पर अहसान करके बोले, "आपके बयान से मेरी तसल्ली नहीं होती, पर मैं और खोज करूँगा और ज़रूरत हुई तो फिर मिलेंगे।" मैंने उसी दिन बीकानेर छोड़ दिया। इस थोड़े से क़याम में मैंने देख लिया कि वहाँ का वातावरण जयपुर से भी गया बीता है और इसमें क्रांतिवाद का अंकुर जल्दी फूट नहीं सकेगा। लेकिन मैं सीधा जयपुर न जाकर नीमकेथाने होकर गया। देशभक्ति के नये रंग में रंगे जाने के बाद पत्नी से मुलाक़ात नहीं हुई थी। सोचा उसे भी नवजीवन का परिचय देकर आने वाली घटनाओं के आघात के लिये कुछ तैयार कर दूँ। जयपुर में सलाह मशिवरे के बाद तय हुआ कि मैं सांभर जाकर छिप रहूं। वहां मेरे बड़े भाई मुंशी छगनलालजी अदालत में अहलकार थे। आदमी शुरू से ही गंभीर और साहसी थे। वहीं पिताजी भी आगये। वे उन लोगों में से थे जो सन्तान के लिये सब कुछ करने और सहने को तैयार रहते हैं। दोनों के रुख से मुझे बल मिला। सांभर में श्रीकृष्णजी सोढाणी से परिचय हुआ। उन्हें भी कलकत्ते में क्रांतिवाद की हवा लग चुकी थी।

उन दिनों की एक घटना याद है। मेरे किसी पत्र से छोटेलालजी को भ्रम हुआ था या एहतियातन उन्होंने जरूरी समझा यह तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु स्व० माधव शुक्ल की ये

पंक्तियां उन्होंने लिख भेजीं:—

"तुम नौकरी इस राक्षसी के, फंद में ऐसे फंसे।
निज शक्ति मन मस्तिष्क, बलयुत जा रहे नीचे धंसे॥
हा, स्वैरिणी के हाथ तुमने, रत्न जीवन दे दिया।
वह भूमि रोती रह गई, जिसने तुम्हें पैदा किया॥
यदि दुःख पड़ने पर हृदय का भेद जाहिर कर दिया।
डरपोक बन कर शत्रु पग पर, शीश अपना धर दिया॥
दो रोज के उपवास में ही धीरता जाती रही।
रोने लगे टुक दण्ड से, गम्भीरता तब क्या रही?
यदि कष्ट सहने के लिए तन मन सभी असमर्थ हैं।
तो देशभक्ती छोड़ दो, आशा तुम्हारी व्यर्थ है॥"

कहना न होगा कि मौनी छोटेलालजी के इस प्राणदायक संदेश ने सरकारी नौकरी न करने और दल के प्रति वफ़ादार रहने के मेरे निश्चय को और भी दृढ़ कर दिया।

१६१५ का नवम्बर मास आ गया था। बनारस षड्यन्त्र केस में शचीन दादा और प्रतापजी को लंबी सजाएं हो गई थीं। मैंने समझा, मामला खत्म हुआ, ज़रा घर की भी सुध लेनी चाहिये। दूसरे दिन नीमकेथाने पहुँच गया। साथ २ श्रीमान् मगनराज व्यास भी फुलेरे से उसी गाड़ी में बैठे, मगर मुझे पता नहीं चलने दिया। वे मजिस्ट्रेट के पास गये। मजिस्ट्रेट पिताजी के मिलने वाले थे। उनका इशारा पाकर पिताजी ने घर पर सूचना भेज दी। मैं घर से निकलकर गांव के बाहर एक मन्दिर में जा छिपा। लेकिन घरवालों के लिये यह एक नये ढंग की और गम्भीर विपत्ति थी। आखिर मजिस्ट्रेट के बीच बचाव से

यह समझौता हुआ कि व्यासजी मुझे वहां गिरफ़्तार न करेंगे और थोड़ी-पूछताछ करके चले जायँगे। व्यासजी ने मिलते ही उलहना दिया, 'आपने बीकानेर में तो घिस्सा दिया। अब तो सच सच कह दीजिये।' मुझे उस व.क़ तक इतना तो अनुभव हो चला था कि पुलिस की नरमी ख़ाली उदारता नहीं हो सकती, उसका मामला ज़रूर कमज़ोर होगा। मैंने व्यासजी पर इसी आशय की एक नज़र डाली और इस बार थोड़ा गंगा जमनी जवाब दे दिया। वे चले तो गये, मगर महिने भर बाद ही उनका ख़त आया कि जयपुर में मिलिये। बचन के अनुसार पिताजी के साथ उनसे जयपुर में मिला।

राजपूताने के दल को व्यासजी पर बड़ा रोष था। प्रतापजी की गिरफ़्तारी और सज़ायाबी से हमारा बड़ा नुक़सान हुआ था। इसका बदला लेने के लिये व्यासजी को वहीं 'रज्ञ लेने' की तजवीज़ हुई। तय हुआ कि पिस्तौल एक किशोर साथी लावें जिनके ससुर एक बड़ी जागीर के दीवान थे, मैं व्यासजी को एडवर्ड मेमोरियल में बातों में रोके रक्खूं और छोटेलालजी उन पर वार करें। परन्तु मारने वाले से बचाने वाला बड़ा है। योजना पार न पड़ी। उन दिनों जयपुर शहर के पुलिस सुपरडंट और मजिस्ट्रेट तिवाड़ी दीनदयालजी थे। उनके बड़े लड़के स्व० शिवराज मेरे मित्र थे। उनसे व्यासजी की कार्रवाइयों का हमें रोज़ पता लगता रहता था। इस कारण वे हमारे दल का बहुत कुछ न बिगाड़ सके। आदमी भी शरीफ़ थे। व्यर्थ किसी को तंग भी नहीं करते थे। मेरे ख़िलाफ़ कोई सबूत नहीं मिला, यह कह कर चले गये।

तीसरा अध्याय

शेखावाटी में

घरवालों का आग्रह था कि कोई रोज़गार करूं। मेरा मन भी पढ़ाई में नहीं लगता था। काम की धुन बढ़ रही थी, मगर कोई निमित्त तो चाहिये। हमारे प्रिंसिपल मेरी खतरनाक हलचल को देख कर मुझे कॉलेज के लिए बला समझने लगे थे। जापान भेजने का प्रस्ताव पास हुआ। विद्यार्थियों के परम सहायक स्व० डा० दलजंगसिंह ने खर्च देने का वादा किया। लेकिन इसका अर्थ होता तुरन्त देश सेवा से हाथ धोना और अन्त में सरकारी नौकरी! यह मुझे मंज़ूर न था। आख़िर मैंने रामगढ़ (शेखावाटी) में शिक्षक होकर जाना पसंद किया। १९१६ के शुरू में मैं वहाँ पहुँच गया।

रास्ते में एक जागीरदार के यहाँ शादी में शरीक होना था। जागीरी प्रथा के मातहत मानव जीवन को देखने का यह पहला मौक़ा था। वर मेरे शिष्य थे और कन्या पक्ष से पुराना सम्बन्ध था। जागीरदार ३ घण्टे तक रोज़ हवन पूजा पाठ और दूसरे कर्मकाण्ड करते थे, लेकिन अव्वल दर्जे के दुराचारी थे। इस व्याह में देखा कि किस तरह एक आदमी के इशारे पर दर्जनों दास दासियाँ, बीसियों नौकर चाकर और सैकड़ों

किसान दिन रात नाचते हैं, किस तरह गरीबों की कमाई राग रंग में उड़ाई जाती है और ऊपर से उजली दिखाई देने वाली व्यवस्था के भीतर कितना अंधकार, दंभ और अत्याचार छुपा रहता है। मन पर सामन्तशाही के बारे में एक खास असर उसी दिन से हो गया।

रामगढ़ में धन की सत्ता का पहला अनुभव हुआ। जो हालात वहाँ थे वे ही क़रीब क़रीब सारे शेखावाटी इलाक़े में थे। स्कूल सेठों का था। हैडमास्टर नाम को एक बूढ़े शिक्षक थे, मगर काम मुन्शी को करना पड़ता था। क़स्बा यूं तो सीकर के रावराजाजी की जागीर में था, परन्तु असल में राजा वहाँ के थे सेठ लोग ही। इनमें लक्ष्मी के जो नये कृपापात्र थे उनमें नाम की इच्छा अधिक थी, पुरानों में सत्ता का प्रेम ज्यादा था। कुछ लोगों को छोड़ कर दोनों ही अपनी दौलत का दिखावा भद्दे भोग-विलास और गरीब को चूसने या सताने के बजाय नयी नयी आलीशान हवेलियाँ, दवाखाने, धर्मशालाएं और पाठशालाएं बनाने में करते थे। गौशालाओं के प्रबन्ध में सहयोग था; राजनैतिक प्रभाव के मामलों में स्पर्द्धा चलती थी। पुरानों में कुलीनता के गुणों के साथ अहंकार का दुर्गुण था। वे विद्या, कला और संगीत के प्रेमी थे, मगर साधारण लोगों के साथ मिलने में कंजूसी करते थे। जब बाहर निकलते, आगे पीछे लठैत रानपूत रखते थे और 'हुजूर' कहलाने के बड़े शौक़ीन थे। नये इस बारे में ज्यादा सादगी बरतते थे और

लोकप्रियता का लाभ उठाते थे। ब्राह्मणों का प्रभाव भीतर और बाहर दोनों जगह था। 'महाराज' रसोईघर के छोटे मालिक होते थे और 'पण्डितजी' का सेठजी पर ख़ूब असर था। मगर ज्यादातर ब्राह्मण अपढ़ और यजमान वृत्ति पर रहने वाले थे। बहुतेरे भंग और गांजे के व्यसनी और आलसी थे। फिर भी उनका मान जन्म से होता था और उन्हें दान भी काफ़ी मिलता था। विदेशी चीज़ों का प्रचार काफ़ी हो चला था। छुआछूत का भूत लगभग सभी पर बुरी तरह सवार था। मगर ग़रीबों की मदद और जीव-दया की भावना भी ज़ोरदार थी। आम लोगों में पढ़ने की रुचि बहुत नहीं थी और अंग्रेज़ी तो बहुत से सिर्फ़ तार पढ़ने लिखने की योग्यता प्राप्त करने को ही सीखते थे। शिक्षकों का कोई आदर न था। वे नौकर समझे जाते थे। अधिकांश 'मास्टरों' का रोज़ी ही मुख्य उद्देश्य था; स्वाभिमान और समाज-सेवा गौण चीज़ें थीं। विद्यादान की अपेक्षा धन लाभ का हेतु प्रबल था। इस कारण 'ख़ुशामद में ही आमद' होती थी। फिर भी मामूली हालात एक देश सेवक की दृष्टि से जयपुर की अपेक्षा कहीं ज्यादा अनुकूल थे। कलकत्ता, बम्बई वग़ैरा प्रगतिशील शहरों से रात दिन का सम्बन्ध होने के कारण लोगों में कुछ राजनैतिक संस्कार थे। धनिकवर्ग में नरम ढंग की देशभक्ति और समाज सुधार की वृत्ति थी। न ख़ुफ़िया पुलिस थी और न सभा संस्थाओं की रोकटोक। आसपास के किसानों और देहातियों के साथ सेठजी

का संबंध सूदखोर साहुकारों का नहीं था, समय पर उनकी सहायता करने का था। लाखों के वारे-न्यारे करने वाले लोग, लेन-देन के धन्धे को टटपूँजिया और जलील समझते थे। जागीरदार भी धन की मार के आगे उतनी उच्छृं खलता नहीं, दिखा पाते थे। इस कारण राज्य के और भागों से शेखावाटी का किसान कम पीड़ित, ज्यादा दबंग और अधिक खुशहाल था।

सब बातों को देखते हुए मुझे अपना नया कार्यक्षेत्र पसंद आया और मैंने काम शुरू करने में देर नहीं की। पढ़ाना मुझे आता था। मैंने मिडिल स्कूल में जो ऊँचे से ऊँचे दर्जे हो सकते थे, ले लिये। विद्यार्थियों में अपनी नई नई बातों के कारण जल्दी लोकप्रिय हो गया और बड़ी उम्र के लड़कों में क्रांतिवाद के विचार देने लगा। इतिहास दो तरह से पढ़ाता। परीक्षा के लिए मार्सडन साहब का और ज्ञान के लिए राष्ट्रीय लेकों का लिखा हुआ। श्री० बालकृष्णजी पोद्दार की जिज्ञासा, श्री० लक्ष्मणप्रसादजी की सहृदयता और श्री० मोतीलालजी प्रहलादका का साथीपन मुझे भाया। बालकृष्णजी रामगढ़ में ज्यादा रहते थे। उन्हें थोड़े ही दिन में क्रांतिकारी साहित्य का चस्का लग गया।

उन दिनों श्रीमती एनीबीसेंट का सितारा हिंदुस्तान के राजनैतिक आकाश में चमक रहा था। होमरूल आंदोलन की वे नेतृ थीं। उनका 'न्यू इंडिया' अंग्रेजी का सबसे जोशीला

दैनिक था। राष्ट्रीय साहित्य भी उनके यहां से अच्छा निकल रहा था। वालकृष्णजी मेरे साथ ये पुस्तकें और अखवार पढ़ने लगे। परन्तु वहां कोई काम सफल नहीं हो सकता था जब तक पंडितों की जमात का सद्भाव प्राप्त न कर लिया जाता। मेरे जैसे उग्र सुधारक के लिए तो उनकी सहानुभूति और भी जरूरी थी। मैंने कुछ शास्त्रियों से थोड़े ही अर्से में मित्रता बढ़ा ली। उसका उपयोग भी जल्दी ही सावित हो गया। वात यह हुई कि मैंने अपने एक वैद्य मित्र के पास संयोग से एक ब्राह्मण विद्यार्थी के हाथ पेशाव की शीशी जांच के लिए भेजदी। यह वात जाहिर होते ही मुझे लगा कि मैंने भिड़ के छत्ते को छेड़ दिया। पंडितों की मित्रता के प्रभाव से तूफ़ान थोड़े में ही शांत होगया और मेरा काम समय से पहले ही चौपट होने से वच गया।

इसी समय रामगढ़ में एक खास घटना हुई। वहां के वड़े सेठ तो पोद्दार ही थे, मगर राजकाज के मामलों में खेमका उनके प्रतिद्वन्दी थे। दोनों में किसी जमीन के टुकड़े पर झगड़ा चल रहा था। ठिकाने ने पोद्दारों के हक़ में फ़ैसला दिया। खेमकों को यह अन्याय मालूम हुआ और कुछ उपाय न देख कर उन्होंने 'देशत्याग' का आश्रय लिया। उनके सामान की गाड़ियों का एक जलूस सा वन गया। सारा रामगढ़ इस करुण दृश्य को देखने उमड़ पड़ा। हरेक नर नारी का दिल पसीज गया। जिन लोगों का झुकाव पोद्दारों की तरफ था उनकी

सहानुभूति भी खेमकों के साथ हो गई। पोद्दारों की इनसानियत भी अछूती न रह सकी। वे खेमकों को मना कर वापस ले आए। खुद कष्ट उठा कर दुश्मन का दिल जीतने के इस पुराने हिंदुस्तानी हथियार का प्रयोग कितना कारगर होता है यह उस दिन पहले पहल समझ में आया।

हम लोगों ने एक पुस्तकालय, वाचनालय और वादविवाद समिति संगठित करली। खेल नये जोश के साथ शुरू कर दिये और एक रात की पाठशाला खोलदी। उधर सर्व श्री० गौरी-शंकरजी, विशंभरलालजी और मोतीलालजी रुइया की कोशिश से हमारे से भी अच्छी संस्था खुली जिसमें नये ढंग के साहित्य और समाचार-पत्र अधिक आने लगे।

उन्हीं दिनों कलकत्ते में एक खास घटना हुई जिसका शेखावाटी और मारवाड़ी समाज पर विशेष परिणाम हुआ। कलकत्ते में मारवाड़ी सेवा समिति नाम की संस्था थी। बंगालियों के उदाहरण से राजस्थानी नौजवानों में भी पुरुषोचित खेलों, समाज सेवा के कामों और देशभक्ति पूर्ण विचारों की रुचि पैदा हुई। ये सब काम वे सेवा समिति के जरिये करने लगे। कुछ लोगों का क्रांतिकारियों से भी संपर्क होगया। ब्रिटिश सरकार की उस पर नजर पड़ी। सर्व श्री० घनश्यामदास बिड़ला, ओंकार मल सर्राफ, ज्वालाप्रसाद कानोड़िया, हनुमान-प्रसाद पोद्दार और कन्हैयालाल चितलांग्या पर भारत रक्षा क़ानून का वार हुआ। इनमें से दो जो धनी थे 'देस' चले आते

में सफल हुए। सरकार ने इसी पर संतोष कर लिया कि वे युद्धकाल तक शेखावाटी में रहें। बाक़ी तीनों बंगाल में अलग २ स्थानों पर नज़रबन्द कर दिये गये। इस घटना से पहले मुझे मारवाड़ी कहलाने में जो शर्म महसूस होती थी वह जाती रही। लेकिन हमारे स्कूल के संचालकों में से 'बड़े कुँवर सा०' का व्यवहार मुझे इतना अपमान से भरा मालूम हुआ कि मैंने इस्तीफ़ा देकर अपने स्वाभिमान की रक्षा की। यह मेरे समाजवादी होने की शुरुआत थी। सौभाग्य से इससे पहले सेठ जमनालालजी बजाज से परिचय हो चुका था। वे रुइयों की संस्कृत पाठशालाओं को एक कालेज का रूप देने के सिलसिले में रामगढ़ आये थे। हमारे स्कूल में भी उनका आना हुआ। उन्होंने मुझे इतिहास पढ़ाते देखा और शाम को मिलने का बुलावा दे गये। मुलाक़ात के अन्त में वे बोले, "कभी यहाँ से जाने का प्रसंग आ जाय तो मुझे लिखिये।"

चौथा परिच्छेद

वर्धा में

१९१७ की बरसात थी। रामगढ़ छोड़ने पर मैंने एक तरफ़ से सेठ जमनालालजी को और दूसरी तरफ़ छोटेलालजी को इत्तिला दी। वे उस व़क्त महात्मा गांधीजी के साथ चम्पारन में काम कर रहे थे। वहाँ का सत्याग्रह सफल हो चुका था और गाँधीजी शिक्षा-प्रचार वग़ैरह रचनात्मक कार्य संगठित कर रहे थे। मुझे वर्धा और चम्पारन दोनों जगह से निमन्त्रण मिला। लेकिन गाँधीजी ने अपनी ज़रूरत से जमनालालजी की ज़रूरत को अधिक महत्व दिया। उनकी उदारता का यह पहला परिचय था। मैं वर्धा चला गया। वहाँ की संगति, काम करने का मौक़ा और राजस्थानी व राष्ट्रीय वातावरण पाकर मुझे ख़ुशी हुई। सर्वश्री जमनालालजी बजाज श्री० कृष्णदासजी जाजू व वृद्धिचन्दजी पोद्दार जैसे बुजुर्गों, श्री० चिरंजीलालजी बड़जात्या और श्री० द्वारकादासजी भैया आदि सुहृदों और श्री० दत्तोपन्त मोहनी व श्री० दामले आदि शिक्षकों से गहरा परिचय हुआ। मारवाड़ी विद्यालय, छात्रावास और सेवा समाज वग़ैरह संस्थाओं में काम करने का मौक़ा मिला और राष्ट्रीय विचारों और प्रवृत्तियों के फैलाने की गुंजाइश भी।

उस जमाने में रिज़ले सर्कूलर का ज़ोर था। यह एक सरकारी गश्तीपत्र था जिसके अनुसार विद्यार्थी ही नहीं, सरकारी सहायता पाने वाली और सरकार द्वारा स्वीकृत शिक्षण संस्थाओं के शिक्षकों तक को राजनैतिक संस्थाओं में जाने की मनाही थी। मैं इस बंधन को नहीं मानता था और खुले तौर पर न सिर्फ़ राजनैतिक जलसों में जाता, बल्कि हमारे विद्यालय में भी राष्ट्रीय काम का सूत्रपात कर चुका था। श्रीमती सरोजिनी नायडू के स्वागत में भाग लेकर और भाषण देकर तो मैंने अपने विचारों को अच्छी तरह ज़ाहिर कर दिया था। हमारे इन्सपेक्टर स्टैले साहब कट्टर साम्राज्यवादी थे। उन्हें मेरी ये कार्रवाइयां अवांछनीय मालूम हुईं और संचालकों से मेरी शिकायत हुई। लेकिन उनकी तटस्थता और मेरी दृढ़ता ने मेरी स्वतंत्रता में कोई बाधा नहीं आने दी।

वर्धा में रह कर मैंने १९१७ की कांग्रेस देखी। वहीं लोकमान्य और महात्माजी के पहले दर्शन किये। लौटकर मारवाड़ी अग्रवाल महासभा की स्थापना में सेठ जमनालालजी को भरसक मदद दी। परन्तु वहां की उस समय की स्मृतियों में सब से मधुर वह थी जब इंफ्लुएंजा की महामारी के समय मारवाड़ी सेवा समाज की तरफ़ से कष्ट निवारण का काम किया। महार और माँग आदि हरिजन जातियों में जैसी भयंकर गरीबी थी वैसी ही तीव्रता थी बीमारी की।

इन दोनों से भी भयंकर था उनके अछूतपन का अभिशाप। मेरे और अध्यापक चौथमलजी मंगल के सिवाय कोई सवर्ण इन लोगों में जाने को तैयार न हुआ। हम दोनों सुबह शाम जाते और दवा और खाने-पहनने का सामान बाँटते। दरिद्रता का इतना हृदय-विदारक दृश्य तो मैंने भीलों में भी नहीं देखा। कपड़े की कमी के कारण कई रोगी बहनें तो सचमुच ऐसी नंगी हालत में होती थीं कि हम उन्हें देख भी नहीं सकते थे। जब हम सुबह ही वहाँ जाते तो चारों तरफ़ मुर्दे जलते देख कर कुछ भयभीत भी होते, मगर शाम को सेवा कार्य से लौटते तो हमारे युवक हृदय एक तरह का गर्व और आनन्द महसूस किये बिना न रहते।

लेकिन अब मेरी आत्मा स्वतंत्र जीवन और खुली राजनीति में विचरण करने को आतुर हो चली थी। मैंने ज्यूं ही मारवाड़ी विद्यालय का काम छोड़ा, सेठ जमनालालजी ने कुछ मित्रों के सहयोग से एक स्वदेशी कपड़े की बड़ी सी दुकान खुलवा दी। परन्तु थोड़े ही अर्से में अनुभव हो गया कि मैं व्यापार के लिए नहीं बना था। उन्हीं दिनों में श्र.० ब्रिजलालजी बियाणी और छगनलालजी भारूका आदि से जो नागपुर में कालेज के विद्यार्थी थे, परिचय हुआ। साथ ही एक दो घटनाओं से सेठ जमनालालजी की अन्तर्मुख वृत्ति और निरभिमानता का प्रमाण मिला। एक दिन उन्होंने अपने मित्र वर्धा के सेशन जज श्री० लक्ष्मीनारायण को विदाई भोज दिया। बीसियों दूसरे मेहमानों के साथ मैं भी

रीक हुआ। मुख्य अतिथि के साथ यजमान और उनके दो खास मित्रों को चांदी के बर्तनों में भोजन परोसा गया और बाक़ी लोगों को पीतल के बर्तनों में। धनवानों के यहां ऐसी असभ्यता अक्सर होती है और खासकर हमारे संस्कृति में पिछड़े हुए राजस्थानी समाज में ऐसी पाँत में दुभाँत कोई असाधारण बात भी नहीं। लेकिन मुझे वह खटकी और मैंने खुले तौर पर असन्तोष ज़ाहिर किया। मैं दो चार दिन सेठजी के यहां नहीं गया। हम राज के मिलने वाले ठहरे। उनसे नहीं रहा गया और मुझे बुला भेजा। संयोग से इस व.क्त भी नौकर जो दो गिलासों में पानी लाया तो उनमें से एक चांदी का था और दूसरा पीतल का। सेठजी के यहां उस दिन के बाद इस तरह का भेद भाव कभी नज़र नहीं आया। सचमुच उनका समभाव उनके बहुत से गुणों में से बड़ा गुण था जिसके कारण सार्वजनिक सेवक उनके नज़दीक़ जाते थे और जिसके न होने के कारण दूसरे धनिकों से दूर भागते हैं।

वर्धा के दूसरे व्यक्ति जिनकी मुझ पर छाप पड़ी वे थे श्री० जाजूजी। ये ऊपर से रूखे, बहुत कम बोलने वाले और काम लेने में बड़े कठोर लगे, मगर भीतर से बहुत सहृदय, अपनेपन को अंत तक निभाने वाले, आपत्ति के समय काम आने वाले और ग़ज़ब के मेहनती हैं। वे एक प्रकार से जमनालालजी के लिये एक साथ सलाहकार, पथ प्रदर्शक और मित्र तीनों थे। सेठजी के बड़े से बड़े कामों में पर्दे के पीछे जाजूजी का हाथ

रहता ही था। सच तो यह है कि वर्धा को आज जो सार्वजनिक महत्व मिला हुआ है उसका पहला श्रेय जमनालालजी को है तो उनके बाद दूसरा नंबर जाजूजी का ही आता है।

इस अर्से में मैंने यह भी देख लिया कि जमनालालजी का घर बार, व्यापार और सेवा क्षेत्र मध्य प्रदेश में होते हुए भी वे अपनी जन्मभूमि राजस्थान को कभी नहीं भूल सके। वहां की छोटी से छोटी प्रवृत्ति में भी उनकी दिलचस्पी रहती थी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी जल्दी मिल गया। सन् १९१९ की अमृतसर कांग्रेस के आसपास उन्होंने सर्व श्री० गणेशशंकरजी विद्यार्थी, विजयसिंहजी पथिक और चांदकरणजी शारदा वगैरा को 'राजपूताना मध्य भारत सभा' क़ायम करने में सहयोग दिया देशी राज्योंकी प्रजा की राजनैतिक सेवा का उद्देश्य रखने वाली यह पहली संस्था थी। इसने एक साप्ताहिक पत्र निकालने का भी निश्चय किया। इन दोनों कामों में सेठ जमनालालजी ने दिल खोल कर मदद दी।

लेकिन इस अखबार के निकलने से पहले कुछ घटनाएं हो चुकी थीं जिनका मेरे और राजस्थान के सार्वजनिक जीवन पर गहरा असर पड़ा। ये घटनाएं थीं पंडित अर्जुनलालजी सेठी का नजरबन्दी और ठा० केसरीसिंहजी बारहठ का क़ैद से छूटना, श्री० पथिकजी का वर्धा आना, और लोकमान्य तिलक का परलोक वास।

सेठीजी के त्याग की शोहरत देश भर में फैली हुई थी।

वे वर्धा आये और आते ही हम युवकों के दिलों में समा गये। उनके एक एक शब्द से आजादी की भावना और अंग्रेजी राज के प्रति घृणा फूट पड़ती थी। वे साम्राज्यशाही के अत्याचारों की पीड़ा से पागल दिखाई पड़ते थे। उनके भाषण सुन कर जनता जोश में बावली हो जाती थी। वे सर्व साधारण को मन्त्र-मुग्ध करना जानते थे और हृदय से बोलते थे।

केसरीसिंहजी की जबान और क़लम में मिठास और संतुलन अधिक था। उनके व्यवहार में अपनेपन, धीरज और गंभीरता का सामंजस्य था। उनकी कोई चेष्टा शान के खिलाफ़ न होती थी। वे देश के जितने उत्कट प्रेमी और ब्रटिश शासन के जितने कट्टर शत्रु थे उतने आजकल के सुधारवाद के हिमायती और मध्यकालीन राज्य-व्यवस्था के वरोधी नहीं थे। लेकिन उनका त्याग अनुपम था। उनका सारा परिवार एक तरह से स्वतन्त्रता देवी पर पंतगों की तरह क़ुर्बान होगया था। वे डिंगल भाषा के बढ़िया कवि थे। अपनी इसी काव्य-शक्ति के द्वारा उन्होंने सन् १९११ के दिल्ली दरबार में महाराणा-फतहसिंहजी को हाजिर रहने से विमुख कर मेवाड़ की शान को बचाया था। हिन्दी में वे गंभीर लेखन-शैली के प्रवर्तकों में से थे। कीर्ति के कामों से दूर रहते थे। भाषण नहीं दिया करते थे। वर्धा में उनका राजाओं सा स्वागत हुआ था। १ अगस्त सन् १९२० को तिलक महाराज का स्वर्गवास हुआ। दूसरे दिन वह दुःखद समाचार 'क्रानिकल' में पढ़ा। मैं रोग शय्या पर था। हृदय पर जबरदस्त

आघात हुआ। उस दिन मेरी आंखों ने जितनी अश्रु-वर्षा की उतनी आगे चल कर स्नेहमयी माता और परमोपकारक पिता के मरने पर भी नहीं की। देश सेवा जीवन का मुख्य उद्देश्य तो पहले ही बन चुका था। उस दिन सारा समय लगा कर सेवा कार्य करने का निश्चय हुआ।

इसके कुछ ही दिन बाद कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में शरीक होकर और गाँधीजी के असहयोग कार्यक्रम की प्रेरणाएं लेकर पथिकजी भी कलकत्ते से वर्धा आ पहुँचे। उनकी बिजौलिया की कारगुज़ारियां पहले सुन रखी थीं। उनकी सूझ, उनके साहस और उनके ग्राम-नायक के अनेक गुणों का मैं प्रशंसक बन चुका था। हृदय उत्सुकता से उनकी तरफ दौड़ रहा था। जिस दिन वे वर्धा आये हम लोग रेल पर उनके स्वागत के लिये गये। उनका लम्बा क़द, कानों पर बंधी हुई सिक्खों की सी दाढ़ी, राजपूती ढंग का साफ़ा, कमर से लटकती हुई सुनहरी मूँठ की तलवार, चौड़ी पेशानी और तेजस्वी आंखों ने फौरन बता दिया कि जिस आदमी की तलाश थी वह मिल गया। उन्हें भी मुझ में एक उपयोगी साथी नजर आया। उनका प्रस्ताव आते ही मैं व्यापार-धंधा छोड़ कर उनके साथ हो लिया।

'राजस्थान केसरी' निकला। पथिकजी सम्पादक हुये। प्रकाशक व सहायक सम्पादक बनने का सौभाग्य मुझे मिला। उन दिनों क़ानूनी ज़िम्मेदारी प्रकाशक की ही होती थी।

सम्पादक का नाम देना भी जरूरी नहीं था। यह देशी राज्यों की प्रजा का पहला मुखपत्र था। यूं तो गणेशजी के 'प्रताप' ने रियासती जनता का ख़ूब पक्ष समर्थन किया था, मगर 'राजस्थान केसरी' पर उस जनता का सम्पूर्ण अधिकार था। सेठजी की सहायता से प्रेस आ गया था। शुरू में सेठीजी और बारहठजी भी लिखते थे। पथिकजी तो उसके प्राण ही थे। बारहठजी के जंवाई श्री० ईश्वरदानजी आसिया की और मेरी सारी शक्ति उसमें लग गई। श्री हरिभाई किंकर का साक्षात्कार भी वहीं हुआ। उनका गौरवर्ण, हँस मुख चेहरा, विशाल ललाट, नीले और खुले नेत्र, लम्बी जटा, लहराती हुई दाढ़ी और क्रियाशील अंग-प्रत्यंग देखते ही कोमल भावना पैदा हो गई। ब्रह्मचारीजी (उन दिनों वे इसी नाम से प्रसिद्ध थे) के मेहनती, सरल और स्नेही स्वभाव ने मुझे सदा के लिये आत्मीयता के पाश में बांध लिया। बच्चों के साथ उनका असाधारण प्रेम, नये परिचय करने की उनकी विलक्षण क्षमता, स्त्रियों, पीड़ितों और पिछड़े हुये वर्गों में सदाचार, समाज सुधार और देश सेवा के प्रचार की उनकी धुन और सब से ज्यादा उनकी नैतिक अटलता ऐसे गुण हैं, जो दूसरे बहुत कम लोगों में पाये जाते हैं। अस्तु, हरिजी भी 'राजस्थान केसरी' के सहायक मैनेजर और अनपढ़ इंजीनियर के रूप में शामिल हो गये। श्री० कन्हैयालालजी कलयंत्री अवैतनिक मैनेजर बनकर जुट गये। गज़ब के मेहनती और लगन के आदमी थे।

अखबार के दो विभाग थे। एक में देशी राज्यों की समस्याओं और दूसरे में ब्रिटिश भारत के आन्दोलनों की चर्चा रहती थी। दो दो अग्रलेख और उसी हिसाब से टिप्पणियां दी जाती थीं। पथिकजी हिन्दी में राजनैतिक विषयों पर प्रायः उसी सामर्थ्य और सगर्भता के साथ लिखते थे जिसके साथ अंग्रेजी पत्रकार लिखते हैं। यह उनकी लेखनी की विशेषता थी। हिन्दुस्तान के इतिहास में वह अभूतपूर्व जन-जागृति का जमाना था। नंगे-भूखे किसानों और काले-कलूटे मजदूरों ने सदियों की नींद से करवट बदली थी। जगह जगह हड़तालें और असन्तोष के दूसरे प्रदर्शन हो रहे थे। 'राजस्थान केसरी' में असहयोग और मजदूरों व किसानों के लिये दो पन्ने सुरक्षित थे। उनका सम्पादन मुझे सौंपा गया। क्रान्तिकारियों की उन्मत्त देशभक्ति और गांधीजी की खुली क्रान्ति से अनुप्राणित होकर मैं उन दो पन्नों में अपनी सारी आत्मा उंडेलने लगा। उसमें मुझे एक असाधारण संतोष अनुभव होता था। समाचारों में पथिकजी की विराम चिन्हों द्वारा टिप्पणी जोड़ देने की शैली एक ऐसी नवीनता थी जो मुझे भाती थी। थोड़े ही समय में 'राजस्थान केसरी' की राजपूताना व मध्य भारत में चारों तरफ धाक जम गई और वर्धा में भी 'राजस्थान केसरी' कार्यालय राजनैतिक जीवन का मुख्य केन्द्र बन गया। सेठ जमनालालजी की उदारता से वह आर्थिक दृष्टि से तो निश्चिन्त ही था, उनकी धर्मपत्नी श्रीमती जानकीदेवी भी पथिकजी को समय समय पर अलग सहायता देती थीं।

सभाओं में सेठीजी के भाषण, पथिकजी की कवितायें और सलाह मश्विरे में 'केसरी' परिवार का सहयोग अनिवार्य था। इन दिनों असहयोग आन्दोलन की मीमांसा पर पं० सुंदर-लालजी के कुछ व्याख्यान हुये थे। इतने शिक्षाप्रद, विवेच-नात्मक और ओजस्वी भाषण देने की शक्ति मैंने बहुत कम लोगों में देखी है। महात्मा भगवानदीनजी के दर्शन भी इसी ज़माने में हुए। अजीब फक्कड़ आदमी और देश के दीवाने दिखाई दिये।

दिसम्बर सन् १९२० में नागपुर की ऐतिहासिक कांग्रेस हुई। सेठ जमनालालजी राय बहादुरी की उपाधि छोड़ चुके थे। वे स्वागताध्यक्ष हुये। हम लोगों ने देशी राज्यों के अत्याचारों की एक छोटीसी प्रदर्शनी इस अवसर पर संगठित की थी। यह नई चीज़ थी। अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया का बल पाकर परम्परा-गत निरंकुशता कैसे रोमांचकारी जुल्म ढाती है, इसका कृत्रिम किन्तु मुँह बोलता चित्र भारत की राष्ट्रीय आत्मा ने—कांग्रेस के प्रतिनिधियों और दर्शकों ने—पहली बार देखा। उस अधि-वेशन में देशी राज्यों की दृष्टि से कांग्रेस के विधान में मौलिक परिवर्तन हुए। बृटिश भारत की संकुचित परिधि को छोड़ कर कांग्रेस ने सारे हिन्दुस्तान की आजादी प्राप्त करना अपना ध्येय घोषित किया और रियासती प्रजा को कांग्रेस के प्रतिनिधि बनने का हक़ दिया। उस दिन पथिकजी और उनके साथियों की ख़ुशी का ठिकाना नहीं था। उस समय तक देशी राज्य निवासियों को यह खतरा दिखाई देता था कि ऐसा न हो, अंग्रेजी इलाक़े के लोग अधिकार पाकर सरकार और राजाओं से कोई ऐसा समझौता करलें जिससे भारत माता के दो भाग हो जावें और कमजोर भाग पराधीन और बेबस बना रहे।

नागपुर अधिवेशन ने यह अन्देशा हमेशा के लिये मिटा दिया।

पथिकजी सेठीजी की मार्फत महात्माजी से बम्बई में पहिले ही मिल चुके थे। महात्माजी ने महादेवभाई को विजौलिया भेज कर जाँच करवा ली थी। किसानों की शिकायतों को सच्चा मान कर वे महाराणा साहब को न्याय करने की प्रार्थना भी कर चुके थे और पथिकजी को वचन भी दे चुके थे कि सारी शिकायतें दूर नहीं हुईं तो वे खुद विजौलिया के सत्याग्रहियों के अगुआ बनेंगे। जब नागपुर अधिवेशन में पथिकजी महात्माजी से मिलने गये तो मैं भी साथ था। महात्माजी ने मिलते ही पूछा, "क्यों पथिकजी, असहकार तो छेड़ दिया, मगर वचन आपको पहले दिया था। कहिये, इसे चलाऊँ या उसे पूरा करूँ ?" पथिकजी ने गद्गद् होकर उत्तर दिया, 'नहीं महात्माजी, आप इस महान् कार्य को सँभालिये। छोटे मोटे काम तो हम आपके अनुयायी निपट लेंगे।' नेता और अनुयायी के दिग्दर्शन रूप यह संवाद मुझे अच्छा लगा और महात्माजी को इतने पास से देख कर खुशी हुई।

इसी अधिवेशन में कुँवर चाँदकरणजी शारदा और पं० गौरीशंकरजी भार्गव से भेंट हुई। इस अवसर पर जो चर्चायें हुईं, उनसे मुझे कल्पना हो गई कि देशी राज्यों की समस्या एक अलग और बड़ा सवाल है और उसका रियासती प्रजा के लिये ही नहीं, देश भर के लिये खास महत्व है। एक राजस्थानी की हैसियत से मुझे पता चला कि मेरा धर्म क्या है।

पांचवाँ अध्याय

राजस्थान सेवा संघ

पथिकजी के दिमाग़ में उन दिनों एक ऐसी संस्था बनाने के विचार चल रहे थे जिसमें युवक लोग राजस्थान की जन्म भर सेवा करने का व्रत लेकर शरीक हों। यह सही है कि दिल में लगन हो तो मनुष्य किसी भी हालत में रह कर देश सेवा कर सकता है। इस तरह के बीसियों उदाहरण दिये जा सकते हैं कि लोगों ने सरकारी नौकरी करते हुये, धन और वैभव की गोद में खेलते हुए, सत्ता के आसन पर बैठे हुये और दूसरे धन्धे करते हुये भी समाज की भलाई के काम किये हैं। लेकिन जब किसी देश की आजादी का सवाल हो, किसी प्रजा को दासता, दरिद्रता और अज्ञान के गहरे कुएं से निकालना हो और किसी बड़े काम को पूरा करना हो तो मन चाहा फल तभी निकल सकता है जब कम से कम कुछ लोग ऐसे निकलें जिनको एक ही लक्ष्य का ध्यान हो और उसी को पूरा करने में उनकी सारी शक्तियाँ लगी हों। ये राजनैतिक संन्यासी या मिश॰ नरी सिर्फ भीख मांग कर और दूसरा कोई धंधा न करके सिर्फ देश का ही काम करने का और वह भी सारा समय लगा कर करने का संकल्प करने वाले ही हो सकते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति

बहुत सी बुराइयों की जड़ है, लेकिन एक ग़रीब देश का उद्धार करने वाले सेवकों के लिए तो वह बड़ी भारी बाधा है। इस तरह धार्मिक झगड़ों में भाग लेने वाले लोग भी न एक संयुक्त राष्ट्र की रचना कर सकते हैं और न अलग २ धर्मों को मानने वाली जनता का ही कुछ भला कर सकते हैं। पथिकजी की सोची हुई संस्था में इन सब सिद्धान्तों के समावेश की कल्पना थी। मैं तो सहमत हो ही गया, लेकिन देशी राज्यों की समस्याओं में रस लेने वाले कुछ प्रमुख कार्यकर्त्ताओं से जब चर्चा हुई तो खानगी जायदाद और धार्मिक खंडन मंडनके प्रश्नों पर मतभेद रहा। अंत में पथिकजी, हरिजी और मैं, बस इन तीन सदस्यों से राजस्थान सेवा संघ की स्थापना हुई। पथिकजी अध्यक्ष और मैं मन्त्री चुना गया। यह तै हुआ कि हर सदस्य अपने और अपने आश्रितों के लिये १५) रुपया मासिक फ़ी आदमी से अधिक खर्च न ले। मुझे याद है संघ के किसी विवाहित सदस्य ने भी ३०) रुपया माहवार से ज्यादा गुजारे के लिये नहीं लिया। इसमें भी जो बचत होती थी संघ को लौटा दी जाती थी।

इसी अर्से में बिजौलिया से पथिकजी के पास बराबर तक़ाज़े आरहे थे कि कोई 'नेता' वहाँ पर जाय। मेवाड़ में जनता कार्यकर्ताओं को इसी नाम से पुकारती थी। पथिकजी बिजौलिया के बारे में महत्वपूर्ण क़दम महात्माजी की सलाह से उठाते थे। वे उन दिनों दिल्ली में थे। हम दोनों वहीं पहुँचे और श्री०

सत्यदेवजी विद्यालंकार के मेहमान हुए। वे उस समय प्रोफ़ेसर इन्द्रजी के 'विजय' में काम करते थे। उनकी उत्कट राष्ट्रीयता का पता तो उसी समय लग गया। हाँ, उनकी सम्पादन कला के जौहर बाद में मालूम हुये। दिल्ली के परामर्श के फलस्वरूप मैं बिजौलिया के लिये रवाना हुआ। मामला पेचीदा और मेरे लिए बिलकुल नया था, मगर पथिकजी ने काफ़ी पट्टी पढ़ा दी थी और मुझ में भी उत्साह, आत्मविश्वास और अनुभव से सीखने की वृत्ति थी।

मैं कोटा पहुंचा। वहाँ कविराजा दुर्गादानजी की कोटड़ी में बिजौलिया के सत्याग्रही किसानों का एक शिष्ट दल मेरा इन्तज़ार कर रहा था। कविराजा साहब एक बड़े जागीरदार होकर भी राष्ट्रीय विचार रखते थे, पथिकजी के मित्र थे और उन्हीं के घर बैठ कर एक अर्से तक पथिकजी ने बिजौलिया का आन्दोलन चलाया था। उन दिनों विदेशी नौकरशाही और स्वदेशी चाकरशाही का गठबंधन इतना मज़बूत नहीं हुआ था और न रियासती कर्मचारी प्रजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में इतने सिद्धहस्त हुए थे कि एक राज्य में रह कर दूसरे राज्य की प्रजा की भलाई का कोई काम न किया जा सके। इस लिये पथिकजी को न कोटा राज्य की तरफ़ से कोई बाधा हुई और न वहाँ के उमराव कविराजाजी को पथिकजी के सहायक बनने में कोई संकोच हुआ। सच तो यह है कि सामंतशाही दुर्गादानजी की नम्रता, सज्जनता और सहृदयता को ज़ंग न लगा सकी थी।

शोषकवर्गमें पैदा होकर वे अपनेको अभागा समझते थे और देश के लिये, गरीबों के लिये, सब कुछ उत्सर्ग करने के सपने देखा करते थे। जब मैंने पहली बार महात्माजी का यह विचार पढ़ा कि जमींदार, जागीरदार और पूंजीपति जनता के ट्रस्टी (संरक्षक) बन सकते हैं तो सब से पहले मेरा ध्यान कविराजाजी पर ही गया था। लेकिन शायद मेरा भी यह सपना ही था। खैर, उन्होंने किसानों से मेरा परिचय कराया और मैं दिन भर उन लोगों से स्थिति समझता रहा।

दूसरे दिन तड़के ही हम लोगों ने प्रस्थान किया। बीहड़ जंगलों और पहाड़ों को पार करने का, जगत के अन्नदाता किसानों से सीधा सम्बन्ध होने का और किसी सार्वजनिक समस्या को सुलझाने में सहायता देने का मेरे वास्ते यह पहला मौक़ा था। मेवाड़ी भाषा भी जरा अटपटी लगी, लेकिन वह मातृभाषा राजस्थानी की एक शाखा थी, थोड़े से सम्पर्क से समझने बोलने की कठिनाई दूर हो गई। शाम होते होते उमाजी की खेड़े पहुंचे। यह किसान पंचायत का केन्द्र था। श्री माणिक्यलालजी वर्मा गांव से बाहर ही मिल गये। उनके साथ नन्दाजी धाकड़ भी थे। नन्दाजी के पास एक तोड़ेदार बंदूक थी। दोनों कोट, धोती और साफ़ा पहने थे।

माणिक्यलालजी का दुबला शरीर, धूप से तपा हुआ गोरा रंग, चपल और गोल आंखें, ऊँचा ललाट और पतले होंठ उनकी क्रियाशीलता, कष्ट-सहिष्णुता, तेज बुद्धि और दृढ़

संकल्प का प्रदर्शन कर रहे थे। थोड़ी देर की बातचीत से यह भी पता लग गया कि स्थानीय परिस्थिति का उन्हें कितना अच्छा ज्ञान है। बाद के तजुर्बे से तो उनके त्यागी जीवन, कार्य कौशल और पीड़ितों के साथ एक रस हो जाने की शक्ति वग़ैरा कई दूसरी ख़ूबियां भी ज़ाहिर हुईं। लेकिन उनके व्यक्तित्व में सब से बढ़िया चीज़ तो यह पाई गई कि वे देहाती जनता में कितनी आसानी से प्रवेश कर सकते हैं और उसका प्रेम और विश्वास सम्पादन कर सकते हैं। प्रान्त भर में इस बारे में वे अपना सानी नहीं रखते। मैं उन्हीं के घर ठहरा और दो एक दिन में ही उनकी पत्नी सौ० नारायणीदेवी के आतिथ्यशील और परिश्रमी स्वभाव का परिचय मिल गया। स्व० महादेव भाई के बाद बाहर का मैं पहला कार्यकर्त्ता था जो 'ऊपर माल' में खुले तौर पर गया था।

बिजौलिया मेवाड़ का एक प्रथम श्रेणी का जागीरी इलाक़ा है। वहाँ के उमराव रावजी कहलाते हैं जिन्हें महाराणा के दरबार में सोलह सरदारों में बैठक मिलती है और पहले दर्जे के मजिस्ट्रेट के अख़्तियार हासिल हैं। यह प्रदेश विन्ध्याचल की ऊँची पठार पर बसा हुआ लगभग १०० वर्ग मील का छोटे छोटे २०–२५ गावों का एक समूह है। मुख्य क़स्बे की बस्ती ४ हज़ार और कुल इलाक़े की कोई १२००० होगी। अधिकांश किसान धाकड़ जाति के हैं। मौजूदा रावजी के पिता के देहान्त पर सन् १६१६ में ठिकाना रियासत

की मुंसरमात में चला गया। ठाकुर डूंगरसिंहजी मार्टे। नायब मुंसरिम जागीर का सारा इंतज़ाम करते थे। कार्यकर्ताओं के निमंत्रण पर पथिकजी सन् १९१७ में विजौलिया पहुंचे और विद्या प्रचारिणी सभा क़ायम करके उसकी तरफ़ से एक पुस्तकालय, एक पाठशाला और एक अखाड़ा चलाने लगे। ऊपरमाल के किसानों में असंतोष पुराना था। पीढ़ियों से वे सख्त बेगार, पचासों अजीब अजीब लागतों, भारी लगान और मनमाने राजनैतिक ज़ुल्मों की चक्की में पिसते आ रहे थे। एक दो बार सर उठाने की कोशिश में कुचले जा चुके थे। आग भीतर चली गई थी लेकिन बुझी नहीं। उस साल लड़ाई के क़र्ज़ के नाम पर ठिकाने ने कमर तोड़ वसूली की थी। किसानों को यह भार असह्य हो गया। पथिकजी की जन्मजात सहानुभूति उनके साथ थी, वे किसानों के नेता बन गये। उनकी कार्य प्रणाली में क्रांतिकारियों के साहस, लोकमान्य की नीति और गाँधी के सत्याग्रह का सामंजस्य था। किसानों को उन्होंने सब कष्ट सह कर भी मारपीट न करने और अपनी माँग पर डटे रहने का पाठ पढ़ाया। वे ख़ुद छिप कर रहने लगे और ठिकाने के ख़िलाफ़ रियासत में शिकायतों का और अख़बारों में प्रकाशन का दुधारा खांडा चलाने लगे। पंचायत का मज़बूत संगठन कर लिया गया। उसकी एक केन्द्रीय कमेटी बनाई गई और गांवों में शाखाएं स्थापित हो गईं। सभी ग्रामवासी शरीक हुये। आन्दोलन के लिये बाहर से भीख न मांग कर किसानों

से ही कोष इकट्ठा कर लिया गया। यह स्वावलम्बन आखिर तक रहा और इसी में एक बड़ी हद तक बिजौलिया की सफलता का रहस्य था।

किसानों ने सत्याग्रह छेड़ दिया। ठिकाने की आज्ञायें न मानना, उसे कोई कर न देना और उसकी अदालत व पुलिस से वास्ता न रखना मुख्य कार्यक्रम बना। ठिकाने ने भय, प्रलोभन और छल के सभी हथियार आज़माये। बूढ़े किसानों के साथ मारपीट की गई उन्हें जेलमें ठूंसा गया, जुर्माने व ज़ब्तियां हुईं और अंत में उनकी खड़ी फ़सलें नष्ट करदी गईं। पथिकजी की सूझ विलक्षण थी। उनकी सूचना पर पचायत ने तय किया कि सत्याग्रह जारी रहे, सत्याग्रही लोग क़स्बे में न जायं, शराब छोड़ दें, शादी और मौसर बन्द रक्खें और बिजौलिया की सारी ज़मीन पड़त रख कर आस पास के ग्वालियर, इंदौर, कोटा और बूंदी के इलाक़ों में खाने भर को खेती करलें। किसानों में फूट डालने वाले असर न पड़ने देने, उनकी आर्थिक शक्ति मज़बूत रखने और ठिकाने को झुकाने के लिये यह कार्यक्रम बड़ा ज़रूरी था। इस पर अमल भी इतनी कड़ाई से हुआ कि चार साल तक ठिकाने को न लगान मिला और न मुक़दमे मामले उसकी कचहरी में गये। शराब की दुकानों का बहिष्कार रहा और शादी-ग़मी के काम रुके रहे। ठिकाना बुरी तरह क़र्ज़-दार हो गया। महाराणा फ़तहसिंहजी की जागीरदारी विरोधी नीति भी रावजी के ख़िलाफ़ और सत्याग्रहियों के अनुकूल साबित

हुई। किसानों को अपनी शक्ति का ज्ञान और कामयाबी का यक़ीन हो गया।

परन्तु इस महान कार्य में पथिकजी ने ख़ूब कष्ट उठाये। उन्हें गुप्त जीवन की सारी असुविधायें सहन करनी पड़ीं, रूखी सूखी और समय असमय खाकर संतोष करना पड़ा और कई बार फ़ाक़ा मस्ती में गुज़ारनी पड़ी। मेंह बरसते खेतों में और भयंकर पशुओं से भरे जंगलों में उन्हें अंधेरी रातें गुज़ारनी पड़ीं और हरदम एक क्रूर शत्रु के घेरे में दांतों के बीच जीभ की तरह घूमना पड़ा। कोई आश्चर्य नहीं यदि किसानों ने उन्हें 'महात्मा' की पदवी दी और उनके शब्द को आज्ञा के रूप में माना। पथिकजी ने इस भक्ति से अपना कोई स्वार्थ साधन नहीं किया।

मैंने देखा उस समय 'वन्देमातरम' की आवाज़ ऊपरमाल के कौने कौने में गूंजती थी। हर स्त्री पुरुष का यही अभिवादन था। एक छोटे से क्षेत्र में मातृभूमि की पूजा के भाव नर नारी, बाल वृद्ध सभी की हृत्तंत्री में बज रहे थे। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इस धर्म में ये सभी किसान 'आनन्द मठ' के क्रांतिकारी संन्यासी बन गये हैं। फ़र्क़ इतना ही था कि वे सशस्त्र विप्लववादी थे और ये निःशस्त्र सत्याग्रही। पंचायत के संगठन में डाकवाले का पद बड़े भरोसे और महत्व का था। मगर तुलसा भील के रूप में बिजौलिया के किसानों को एक असाधारण संदेशवाहक मिला था। उसने सब तरह के भय और प्रलोभनों

के ऊपर उठ कर पंचायत की सेवा की थी। चलनेवाला इस गज़ब का था कि कई बार सुबह उमाजी के खेड़े से रवाना होकर शाम को कोटा पहुँच जाता और दूसरे दिन सुबह ही लौट आता। इस प्रकार २४ घंटे में वह ७० मील का लगातार सफ़र कर लेता था। बिजौलिया ही में मैंने पहले पहल यह भी देखा कि हमारे देहाती संगठन की कुंजी वहाँ के बड़े-बूढ़ों के हाथ में होती है। युवक वर का काम करते हैं और बुजुर्ग लोग पंचायत का। वे ही हमारे ग्रामीण समाज के नेता होते हैं और उन्हों के पास अनुभव, समझदारी और अवकाश भी है।

जब मैं बिजौलिया पहुँचा तब वहाँ की यही परिस्थित थी। किसानों के मुखियों से मिलने और सब हालात समझने के बाद मैंने ठिकाने के रावजी और अधिकारियों से भेंट की। उन पर निराशा छाई हुई थी और वे समझौते के लिए उत्सुक थे। क़स्बे के महाजनों ने भी मुझसे 'राजा-प्रजा' में मेल कराने की अपील की। वे ज्यादातर बोहरे थे। किसानों ने उन्हें अपना शोषक और ठिकाने का पोषक समझ कर उनका भी बहिष्कार कर रखा था। उनका लेन देन बंद था। छोटे जागीरदारों की हालत सब से खराब थी। उनमें से कुछ के करुण सन्देश आये, लेकिन सबसे कड़ा रुख था क़स्बे के युवकों का। इनमें से कुछ राजकर्मचारियों के सम्बन्धी और सब पथिकजी के चेले या अनुयायी थे और उनके गुप्तचरों का काम देते थे। साधु सीतारामदासजी उग्रदल के अगुआ थे। उनका

परिचय नहीं हुआ। साधुजी अनुभवी आदमी थे। उनमें अपनी बात दूसरों के गले उतारने की अच्छी शक्ति थी। मेवाड़ी भाषा में संस्कृत की पुट लगा कर वे उसकी समृद्धि बढ़ाने में प्रवीण थे। वैद्यक के चुटकले और व्यावहारिक युक्तियाँ उन्हें खूब याद थीं। ग्वालियर की लीरण नामक जागीर का मामला साधुजी के हाथों से ही सुलझा था। यहां की अत्याचार पीड़ित जनता के कष्ट निवारण में श्री० चौथमलजी अग्रवाल की सेवाएँ भी उल्लेखनीय हैं।

मेवाड़ के रेज़ीडेण्ट विल्किंसन साहब उन दिनों दौरे पर बिजौलिया आये हुए थे। मैंने उन्हें पक्षियों का शिकार करते हुए जा पकड़ा। किसी अंग्रेज से मिलने का इससे पहले मेरा काम न पड़ा था। उस व.क्त गोरी चमड़ी का बड़ा दबदबा था। रियासत में अजंट साहब के पास फटकने में बड़े बड़ों की हिम्मत नहीं पड़ती थी। लेकिन मुझे गांधीजी के आन्दोलन की हवा लग चुकी थी। असहयोग ने भारत की जनता में निर्भयता और अंग्रेज के आतंक और उसकी हकूमत की प्रतिष्ठा की जड़ें हिलादी थीं। विल्किंसन साहब को मेरा दुःसाहस पसन्द तो नहीं आ रहा था। मगर वे मुझे टाल नहीं सके। मैंने उनसे सीधा ही कहा, "आप सार्वभौम सत्ता के प्रतिनिधि हैं। यहां की जागीर में जो ज़ुल्म हो रहे हैं उनसे राहत पाने में आपको प्रजा की मदद करनी चाहिये।" "लेकिन हम रियासत के अन्दरूनी मामलों में दख़ल नहीं देते", साहब बोले। मैंने

पूछा, "लेकिन आपके निमित्त जो मुफ्त रसद और बेगार ली जाती है क्या उसे भी आप नहीं रोक सकते ?" उन्होंने मुझे प्रोत्साहन नहीं दिया और मैं अंग्रेजी राज्य के खिलाफ़ अपना बुरा ख़याल मजबूत करके लौट आया।

मैं कोई सप्ताह भर बिजौलिया ठहरा हूँगा। जब मैं वहां लौटा तो मेरे हृदय में अनेक प्रेरक स्मृतियों का भण्डार भरा था। इस यात्रा के परिणाम-स्वरूप मेरे विचारों में भी एक बड़ी तब्दीली हुई। मैं अब गुप्त षड्यंत्र और स्फुट हिंसा और लूटमार की देश-भक्ति के उन्माद से मुक्त होकर जनता की खुली सेवा का क़ायल होगया। गांधीजी के सार्वजनिक सत्याग्रह की पहली नक़ल देश भर में पथिकजी ने की थी। उसका स्वरूप और प्रभाव बिजौलिया में देखकर उस पर मेरी श्रद्धा होगई। विप्लववाद के संस्कार तो अब भी थे और मेरा ख़याल है कि बाल्यकाल और तरुण अवस्था के संस्कार किसी न किसी रूप में मनुष्य पर क़ायम रहते ही हैं, लेकिन देश सेवा के, भारत की आज़ादी के, उस मार्ग को मैंने सदा के लिये प्रणाम कर लिया।

फ़र्वरी १९२१ का समय होगा। दीनबन्धु सी. एफ़. एण्ड्रूज की एक लेखमाला अख़बारों में निकली। उस में बेगार प्रथा पर प्रकाश डाला गया। हम लोगों ने भी राजस्थान में प्रचलित बेगार की क्रूरताओं के समाचार भिजवाये। उस देवता-स्वरूप अंग्रेज को सहसा भरोसा नहीं हुआ कि मानव स्वभाव

अंग्रेज़ी राज्य की छत्रछाया में इतनी हृदय-हीनता से काम ले सकता है। लेकिन अधिक प्रमाण मिलने पर वे क़ायल हो गये। बेगार की उन्होंने 'आधुनिक गुलामी' कह कर तीव्र निन्दा की और उसके उखाड़ फेंकने के लिये लड़ने से पहले प्रत्यक्ष जांच करने की इच्छा प्रकट की। राजस्थान सेवा संघ ने इस विचार का स्वागत किया और दीनबन्धु को सहयोग देने का वचन लिख भेजा। राजस्थान की पीड़ित जनता की सेवा का यह सुवर्ण अवसर था। हम लोगोंने अपने असली कार्यक्षेत्र में जाने का निश्चय किया। 'राजस्थान केसरी' का मोह ज़रूर था, परन्तु कड़ा जी करके उसे भी सत्यदेवजी विद्यालंकार के सुपुर्द कर दिया। वे कुछ अर्से पहले वर्धा आ चुके थे और पथिक जी की परीक्षा में योग्य पत्रकार ठहर चुके थे। हम तो राजपूताना चले आये, मगर दीनबन्धु का दौरा किसी न किसी कारण टलता ही गया। बीकानेर के महाराजा गंगासिंहजी ने पहले तो उन्हें अपनी रियासत में जांच का निमंत्रण भेज दिया, मगर बाद में बृटिश पार्लियामेंट में सरकार का रुख देख कर मुकर गये। हां, इस विलंब से हमें तैयारी का अच्छा मौक़ा मिला। राजपूताने के प्रायः सभी और मध्य भारत के बहुत से राज्यों में जगह जगह 'राजस्थान केसरी' और बिजौलिया-सत्याग्रह ने पथिकजी के प्रशंसक और संघ के सहायक पैदा कर दिये थे। पथिकजी के लेखों ने प्रांतीय युवकों में प्रांतीय एकता और स्थानीय देश प्रेम जगाना शुरू कर दिया था। ये सब लोग बेगार के बारे में

सामग्री जुटाने में लग गये और हमारे मार्च सन् १९३८ में अजमेर पहुंचते पहुँचते स्थान-स्थान से बेगार पीड़ितों की करुण-कथा के पुलन्दे आने लगे।

हम कोटा होकर गये थे। वहां स्व० पं नयनूरामजी शर्मा से मेरी पहली मुलाक़ात हुई। ये पुलिस थानेदार की नौकरी छोड़ कर राजनैतिक मैदान में आये ही थे। पहला काम उन्होंने बेगार निवारण का हाथ में लिया। देश का वातावरण अनुकूल था और कोटा में महाराव उम्मेदसिंहजी जैसे दमनविरोधी शासक और चौबे रघुनाथदास जैसे समझदार दीवान थे। नयनूरामजी को अच्छी सफलता मिली और बेगार की सख्तियों में कमी करने का सुयश राजपूताने में सबसे पहले कोटा को आसानी और ख़ूबसूरती से मिल गया। त्याग और श्रेय की इस भूमिका के साथ शर्माजी मिले। सांवला रंग, हृष्ट पुष्ट शरीर, नंगा सर, मोटे खद्दर का कुरता और ऊँची धोती, हाथ में एक लट्ठ और मुक्त हास्य—ये सब देखते ही पता लग गया कि आदमी फक्कड़, निर्भय और देहाती जीवन का अभ्यस्त है। उनकी बातचीत में अतिशय साफगोई होती थी। वे प्रान्त के पहले कार्यकर्ता थे, जिन्होंने सिंह की दाढ़ी उसकी गुफा में पकड़ी थी। उन्होंने रियासत के भीतर बैठ कर उससे खुली लड़ाई ली और जब तक जिये अख़बारों में अपने नाम से अधिकारियों की कड़ी टीका करने में न चूके। वे संघ के चौथे सदस्य और कोटा शाखा के अध्यक्ष बनाए गये। उनके साथ

हम लोग कोटा के शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर श्री० दयाकृष्ण एम. ए. से मिले। 'राजस्थान केसरी' में कोई संवाद छपा था जिसे उन्होंने मान हानिकारक समझा। एक पत्रकार को सत्य पर दृढ़ रहने और जनता के उपयोगी बनने के लिये कितनी खोज के साथ सामग्री प्राप्त करनी चाहिये और कैसी सावधानी से उसे प्रकाशित करना चाहिये इसका पहला पाठ मुझे इस प्रसंग से मिला। अस्तु, दुर्भाग्य-वश नयनूरामजी आज हमारे बीच में नहीं हैं। उनकी मृत्यु बहुत ही दुःखद परिस्थितियों में हुई। उनके हत्यारों का रियासत अभी तक पता न चला सकी। लेकिन उनके जीवन का जिस प्रकार अंत हुआ वह हम सभी कार्यकर्त्ताओं के लिये शिक्षाप्रद है। उनकी रचनात्मक प्रतिभा भी कम नहीं थी। उसका प्रमाण था हाड़ोती शिक्षा मंडल। इस संस्था के द्वारा उन्होंने राजा और प्रजा के सहयोग से कोटा राज्य में बरसों तक एक दर्जन से अधिक ग्रामीण पाठशालाएं चलाईं। इनके द्वारा देहाती जनता में शिक्षा प्रचार और साथ साथ हरिजन सेवा और समाज सुधार का काफी काम किया गया। अवश्य ही वे हाड़ौती के प्रथम और एक मात्र नेता थे।

पथिकजी वगैरा अजमेर पहुंच गये थे। मैं जब कुछ दिन बाद पहुंचा तो घासीरामजी की धर्मशाला में संघ का दफ्तर खुल गया था। जगह जगह से बेगार विरोधी आन्दोलन की खबरें आने लगी थीं और हम लोग रोज उनका सार प्रेस तारों और डाक द्वारा समाचार पत्रों में भिजवा रहे थे। मैंने आते

ही दो नई मूर्तियां देखीं। एक तो थे खरवा के पुरोहित मोड़सिंह। ये खरवा राव साहब के आदमी और पथिकजी के पुराने साथी थे। बहुत कम पढ़े लिखे किन्तु बड़े साहसी और होशियार थे। शुरू में बेगूँ का काम उन्होंने जमाया था। दूसरा व्यक्ति एक बिल्कुल श्यामवर्ण, एक हाथ टूटा हुआ, अत्यन्त मितभाषी और संकोचशील निमूछिया जवान था। ये एक कोने में बैठे साइक्लोस्टाइल पर कुछ लिख रहे थे। पथिकजी से पूछने पर मालूम हुआ कि ये उनके बिजौलिया के शिष्य शोभालालजी गुप्त हैं जो अजमेर के डी० ए० वी० स्कूल की नवें दर्जे की पढ़ाई छोड़ कर असहयोग की पुकार पर हाल ही में निकल आये थे। इनके जैसे मूक सेवक, विचारशील साथी, नपा तुला लिखने वाले योग्य पत्रकार विरले ही देखे गये हैं। इनमें अपने आप दूसरों के उदाहरण से सीखने की अद्भुत शक्ति है। ये संघ के पाँचवें सदस्य बने।

अजमेर में पहली राजनैतिक कान्फ्रेंस तो पहले ही हो चुकी थी। उसमें लोकमान्य तिलक पधारे थे और डा० अंसारी अध्यक्ष हुये थे। इस समय अजमेर में परिषद् का दूसरा जल्सा हुआ। पं० मोतीलालजी नेहरू सभापति थे। मौलाना शौकतअली भी तशरीफ़ लाये थे। परिषद् में बड़ा जोश था। यहीं खरवा के राव गोपालसिंहजी को देखा। बुढ़ापा आ चला था, मगर उनके बांकेपन में फ़र्क़ नहीं पड़ा था। साथ ही उनके राजपूत प्रधान विचारों में भी अंतर नहीं आया था। उन्होंने कान्फ्रेंस

में बेगार विरोधी प्रस्ताव की मुख़ालिफ़त की। संघ के वे उम्र भर विरोधी रहे। मगर जिन लोगों ने उनका अन्तकाल देखा है उनसे मालूम होता है कि उनकी आस्तिकता कितनी ग़ज़ब की थी। इसी परिषद में स्वर्गीय मणिलालजी कोठारी से परिचय हुआ। पहली पहचान में ही उनकी स्नेह और भावनाशील प्रकृति का पता चल गया। फिर तो वह परिचय बढ़ता ही गया और एक समय वह आत्मीयता की हद तक पहुँच गया। जब तक राजस्थान सेवा संघ रहा वे सदा उसे अपना और हम लोगों को अपना परिवार समझते रहे। जब कभी अजमेर आते हमारे यहां ठहरते, हमारे हर कष्ट में सहायक और शरीक होते, संघ के लिए सहायता जुटाते और अपने दिल और दिमाग़ के गुणों का दिल खोल कर लाभ देते। राजस्थान के दुर्दैव ने उन्हें असमय ही उठा लिया।

वासीराम की धर्मशाला उन दिनों अजमेर की राष्ट्रीय हलचल का केन्द्र थी। पास ही पं० गौरीशंकरजी का मकान था। वे अजमेर के पहले रईस थे जिन्होंने विदेशी कपड़े के व्यापार को लात मार कर गांधीजी की जोखिम भरी राजनीति में प्रवेश किया था। उनका परिवार भी इस काम में उनके साथ था। धर्मशाला के नीचे के भाग में राष्ट्रीय स्कूल चलता था। और श्री० अकरमशाह और मास्टर कर्मवीर (रतनलालजी) उसके संचालक थे। कांग्रेस दफ़्तर स्वामी नृसिंहदेव सरस्वती के हाथ में था। श्री० चांदकरणजी शारदा वकालत छोड़

चुके थे। मुसलमानों में इस्लाम के अद्वितीय विद्वान मौलाना मुईनुद्दीन, अलीगढ़ के प्रतिभाशाली ग्रेजुएट और युवक वकील मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिरबेग और मौलाना के छोटे भाई प्यारे मियां काम कर रहे थे। इनके साथ मिर्ज़ा यूसुफ़ बेग, सय्यद अब्बास अली और डा० अब्दुल अज़ीज़ वग़ैरा साहबान भी थे। कार्यकर्त्ताओं का अजमेर में ख़ूब प्रभाव था। जब भार्गवजी क़ौमी जुलूसों के आगे घोड़े पर सवार होकर निकलते, शारदाजी अपने निर्भीक भाषण देते, स्वामीजी जोशीली नज़में गाते और मौलाना सीधी तौर भी तक़रीरें करते थे तो एक अजीब समां बंध जाता था। मिर्ज़ाजी के अंग्रेज़ी मस्विदों की राष्ट्रीय हल्क़ों में हर जगह मांग रहती थी। बाबू मथुराप्रसादजी शिवहरे कांग्रेस के अर्थमन्त्री और कताई बुनाई विभाग के संचालक थे। श्री० ललिताप्रसाद 'शाद' की नज़में भी क़ौमी जलसों की रौनक़ थीं।

बीज छोटा होता है, मगर उसका फैलाव एक बड़े पेड़ के रूप में होता है। इसी तरह बिजौलियाके सत्याग्रह का असर आस पास फैलने लगा। पड़ौसी जागीर बेगूं के किसानों को भी लगभग वैसे ही कष्ट थे जैसे बिजौलिया वालों को थे। जनता के सामाजिक सम्बन्ध भी नज़दीकी थे। धाकड़ों की वहां भी प्रधानता थी। उन्होंने बिजौलिया में ठिकाने के दमन की निष्फलता और सत्याग्रहियों की विजय के आसार देख लिये थे। अब तक वे समझते थे कि 'राज का मारा राम को ही पुकार सकता है', लेकिन अब उन्हें बीच की एक तीसरी शक्ति

भी मैदान में नज़र आ रही थी। उन्हें पता लगा कि जिन बुद्धि-शाली और पढ़े लिखे लोगों को अब तक देहाती जनता ने शोषक और पीड़क के रूप में ही देखा था, उनमें उपकारी और सेवक भी होते हैं। सार यह कि उन्हें सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का भी परिचय हो गया था। पैरों तले रौंदे हुये चींटे की तरह उन्होंने करवट बदली। उनके प्रतिनिधि सेवा संघ के दफ़्तर में पहुँचे। उनके साथ मुझे मेवाड़ के प्रधान मंत्री दीवान बहादुर दामोदर लालजी भार्गव के पास भेजा गया। दीवान साहब भले किन्तु कमज़ोर आदमी लगे। अंग्रेज़ रियासतों में ऐसे बहुत से कर्म-चारी भेजते हैं जिनकी कार्यशक्ति क्षीण हो चुकी हो, आख़िरी उम्र में अधिक से अधिक रुपया कमा लेने के सिवाय जिनमें काम या देश सेवा करने का कोई उत्साह बाक़ी न रहा हो, और जिनकी नस नस में विदेशी हुकूमत की वफ़ादारी भरी हो। दामोदरलालजी ने रस्म के अनुसार जाँच करने का वचन दे कर हमें विदा किया। अजमेर लौटने पर मुझे बेगूँ भेज दिया गया। जैसे बिजौलिया इलाक़े को उधर के लोग 'ऊपर माल' कहते हैं, वैसे ही बेगूँ क्षेत्र को 'आंतरी' के नाम से पुकारते हैं। आंतरी पहुँच कर मैंने किसान पंचों से परिचय किया, उनका मामला समझा और पंचायत में भाषण दिया। दूसरे दिन सार्वजनिक सभा हुई। तीसरे पहर तक गांव से किसान स्त्री पुरुषों के झुंड के झुंड आते रहे। बेगूँ के सत्याग्रह में रायता गांव का वही स्थान है जो बिजौलिया में उमाजी के खेड़े का।

रायला के पास एक खेत में सभा हुई। जागीर के कुछ कर्मचारी घुड़सवारों के साथ मौजूद थे। अन्देशा था कि वे बल प्रयोग करेंगे और कोई दुर्घटना होगी। मगर दोनों पक्षों ने संयम से काम लिया। सरकारी टुकड़ी के अफ़सर बनेड़ा के एक शिक्षित युवक श्री० लक्ष्मीनारायण ओझा थे। मेरे चले जाने के बाद इनकी मातहती में किसानों पर गोली चली, वे थोड़े समय बाद बेगूं से अलग कर दिये गये और फिर उन्हें लकवा हो गया।

संघ के आन्दोलन की पद्धति संक्षेप में यह थी कि जब किसी इलाक़े के लोग अपने कष्टों के निवारण में सहायता लेने आते तो किसी विश्वस्त कार्यकर्ता को उस क्षेत्र में भेजा जाता। वहाँ पहुँच कर वह जनता के कष्टों की जाँच करता और उनकी पंचायत का प्रतिनिधि ढंग पर संगठन कर देता। पंचायत संघ में अपना विश्वास प्रगट करते हुए उसके नेतृत्व में काम करने की मंजूरी लिख कर दे देती। संघ की सलाह के अनुसार पंचायत अपनी माँगें ठिकाने और रियासत के सामने दरख्वास्तों के रूप में पेश कर देती। काफ़ी समय तक इंतज़ार करने के बाद सुनाई न होती तो किसान ठिकाने के प्रति सत्याग्रह का एक या एक से अधिक क़दम उठाते। संघ की ओर से कम से कम एक कार्यकर्ता किसानों को रास्ता दिखाने के लिये उन्हीं में रहने के लिये कर दिया जाता। उसकी सलाह से पंचायत लोगों से निश्चित कार्यक्रम पर अमल करवाती। इधर संघ जनता की शिकायतों का अख़बारों में प्रकाशन

करता। पंचायत के साप्ताहिक अधिवेशन जरूर होते थे। इनमें गाँव गाँव के प्रतिनिधि आते थे और सप्ताह भर की खास खास घटनाओं पर विचार करते थे। कार्यक्रम में खादी प्रचार, नशा-निषेध, शिक्षा-प्रसार, कुरीति-निवारण, एकता—स्थापन और राज्य व ठिकाने के हानिकारक प्रभावों को रोकना मुख्य अंग होते थे। ब्रिटिश अधिकारियों के हस्तक्षेप से हमेशा परहेज़ किया जाता था, समझौते की हमेशा वैसी ही तैयारी रक्खी जाती थी जैसी कष्ट सहकर लड़ने की और जनता की तरफ से हिंसा न होने देने की सावधानी रक्खी जाती थी। बच्चों, स्त्रियों और युवकों में उपयुक्त गीतों द्वारा उत्साह क़ायम रखने की बराबर कोशिश की जाती थी।

जब मैं वेगूँ से लौट कर अजमेर पहुँचा तो सेवा संघ का कार्यालय धासीरामजी की धर्मशाला से उठ कर लाखन कोठरी में मुम्बइयों के नोहरे में चला गया था। पथिकजी को संग्रहणी हो गयी थी, फिर भी वे दिन रात काम में लगे रहते। न ख़ुद आराम लेते, न औरों को चैन से बैठने देते। औसतन सोलह घंटे तो काम रहता ही था! मैंने एक बार चार साल का का हिसाब लगा कर देखा तो पथिकजी का औसत खर्च ८) रुपया मासिक से ज्यादा नहीं निकला। यों तो सेवा संघ के सभी कार्यकर्ताओं पर बहुत कम खर्च होता था परन्तु प्रथम श्रेणी के कार्यकर्ताओं में मेरी जानकारी में मेहनती और कम खर्च करने वाले पथिकजी जैसे बहुत कम होंगे।

डाक्टर अम्बालालजी और पं० रामचन्द्रजी वैद्य अजमेर में संघ के खास सहायक थे। डाक्टर साहब का तो पथिकजी से पहले का परिचय था। वे उदयपुर में पथिकजी और 'प्रताप' के संवाददाता रह चुके थे।

सेवा संघ की नीति थी अन्याय का विरोध करने की। जागीरदार प्रजा को सताता तो संघ प्रजा का पक्ष लेता। राजा जागीरदार पर ज्यादती करता तो संघ की सहानुभूति जागीरदार के साथ होती और राजा पर ब्रिटिश सरकार अनुचित दबाव डालती तो संघ राजा की मदद करता। इन दिनों धौलपुर के जाट शासक नें झिरी के ठाकुरों को कुचलने की ठान ली थी। रियासत ने झिरी के क़िले पर हमला कर दिया था और दोनों तरफ़ से तलवार बजने लगी थी। सेवा-संघ की ख्याति प्रांत भर में फैल चुकी थी। जहाँ किसी के साथ राज सत्ता की तरफ़ से बेइन्साफ़ी होती वह दौड़ कर सेवा संघ में आता। झिरी के ठाकुर भी आये। उन्हें सलाह और सहायता दी गई, उनके मामले के असली हालात अखबारों में छपाये गये और अधिकारियों के सामने रखवाये गये।

बेगूँ का मामला बढ़ता जा रहा था और बिजौलिया का सत्याग्रह शांत गति से चल रहा था। इधर अजमेर-मेरवाड़ा में कांग्रेस की शक्ति बढ़ रही थी। ब्यावर में सेठ घीसूलालजी जाजोदिया और स्वामी कुमारानन्दजी काम कर रहे थे। पं० गौरीशंकरजी भार्गव वग़ैरा तिलक स्वातन्त्र्य फंड के लिये इन्दौर

मालवे का सफल दौरा करके और लगभग तीस हज़ार रुपया इकट्ठा करके लौटे थे।

उधर एन्ड्रयूज साहब का बेगार-विरोधी दौरा बराबर मुल्तवी हो रहा था। जनता में जगह-जगह इस राक्षसी प्रथा के खिलाफ़ आन्दोलन उठ खड़े हुये थे। उन्हें संभाल सकना सेवा संघ के लिये मुश्किल हो रहा था। हम लोगों का यह हाल था कि आज एक पैर कहीं है तो दूसरा और कहीं। राज्य सत्ताएं इस असाधारण और एक साथ प्रगट होने वाले असंतोष से घबड़ा उठी थीं। अनेक रियासतों ने ऐसे नियम तो घोषित कर दिये जिनसे मुफ़्त सवारी, मज़दूरी या सामान लेना मना कर दिया गया और भावजों की दरें बढ़ा दी गईं, लेकिन रोग इतना गहरा था कि इन ऊपरी उपचारों से कोई स्थायी या मौलिक लाभ सम्भव नहीं था। बेगार मूल में एक अच्छी भावना से शुरू हुई प्रथा जान पड़ती है। पूर्वकाल में जब राजा प्रजा के सम्बन्ध विशुद्ध थे, राजा सचमुच प्रजा को पुत्र समझता था और प्रजा उसे पिता मानती थी; तब प्रजा ने भक्तिभाव से तय किया होगा कि राजा आवे तो उसका सब काम मुफ़्त किया जाय, उसे सब सामान बिना मूल्य दिया जाय और सवारी का प्रबन्ध भी लोगों की तरफ़ से भेंट-स्वरूप ही हो। मध्यकाल में जब हमारे राजा लोग लड़ाई में लगे रहते थे तो देश की रक्षा के लिये प्रजा से उन्हें मज़दूरी, सामान और सवारी के रूप में स्वेच्छापूर्वक और बिना मूल्य के मदद मिलना स्वाभाविक था।

आगे चलकर अंग्रेजी राज्य ने जब हमारे राजाओं को अपनी छत्रछाया में ले लिया और भीतरी व बाहरी शत्रुओं से उन्हें अभयदान दे दिया तो वे सहज ही निरंकुश हो गये और प्रजा के बजाय विदेशी शासकों को संतुष्ट रखने की उन्हें अधिक चिंता होने लगी। राजाओं ने बेगार को हर समय की और जबरदस्ती की चीज बना डाली। जैसे जैसे अंधाधुंधी बढ़ती गई, उनके नौकर चाकर भी अपने को बेगार लेने के हक़दार समझने लगे। बात यहां तक बढ़ी कि जिस समय राजस्थान सेवा संघ ने बेगार विरोधी आन्दोलन हाथ में लिया प्रांत के अधिकांश भागों में यह हाल था कि प्रायः सभी देहात में, अक्सर क़स्बों में और बहुत से शहरों तक में फ़रशी से 'लेकर प्यादे तक ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के सिवाय हर समुदाय से बहुत से काम मजबूरन और मुफ्त करवाते और सामान व सवारी लेते थे। प्रजावर्ग को इन्कार करने का कोई हक़ न था, या यों कहिये कि कोई साहस न होता था। शादी, ग़मी, रोग, मौसम, फ़सल या कामकाज की मजबूरियों का भी, शायद ही लिहाज रखा जाता था। गाली गलौज, मारपीट और दूसरे ज़ुर्म के तरीक़ों से काम लेना मामूली बात थी। कहीं कहीं थोड़ी सी क़ीमत दे दी जाती थी। कई जगह कारकुन लोग झूठी रसीदों पर बेगारियों से अँगूठे की निशानी करा लेते और सारा या अधिकांश पैसा ख़ुद हजम कर जाते थे। बेचारे हरिजनों को तो बेगार के मारे दूसरे कामों

के लिये फुरसत मिलना ही मुश्किल था। उनका दूसरा नाम ही बेगारी पड़ गया। बेगार में जाने वाली स्त्रियों की इज्जत पर भी कभी कभी हमले हो जाते थे।

रसद का यह तरीक़ा था कि छोटे से छोटा कर्मचारी भी किसी गांव में जाता तो व्यापारी व दुकानदारों को उसके डेरे पर जाकर सामान तोलना पड़ता था। वहां उन्हें अक्सर गाली गलौज और कई वार मारपीट का सामना करना पड़ता था। पूरे दाम भी हमेशा नहीं मिलते थे और चीज़ भी सवाई ड्यौढ़ी देनी पड़ती थी। इसी तरह किसानों से हल छुड़ा कर उनके ऊंट, बैल और गाड़ियां पकड़ ली जाती थीं।

बेगार की जांच के सिलसिले में राजस्थान की चार बुराइयां और सामने आयीं। एक तो लागतों की। ये वे कर हैं जो लगान के अलावा किसानों और प्रजाजनों को राज्य या खास कर जागीर में देने पड़ते हैं। कहीं २ इन्हें लाग बाग के नाम से भी पुकारा जाता है। इनकी जड़ भी प्रजा की वही भावुकता या राजभक्ति है जिसके अधीन बेगार प्रथा जारी हुई। प्रजा ने राजा को उसकी आवश्यकता की चीज़ें सौगात के तौर पर देना शुरू किया और राजा ने उसे नियमित रूप दे दिया। फिर राजा की देखादेख उसके नौकर भी वे ही चीज़ें भेंट स्वरूप लेने लगे। आगे चल कर चीज़ के बजाय उसका मूल्य वसूल होने लगा और इन्कारी या मजबूरी की सूरत में बल प्रयोग किया जाने लगा। इन लाग-

वागों में से कुछ तो बड़ी अजीब थीं। बिजौलिया में चुड़पड़ी नाम की एक लागत थी। उसका क़िस्सा बताया जाता है कि एक बार रावजी शिकार के लिये गये तो उनकी घोड़ी किसी गांव के पास थक कर गिर पड़ी और मर गई। ग्रामवासियों को यह गवारा न हुआ और उन्होंने एक अच्छी घोड़ी राव जी को भेंट कर दी। बस फिर तो वह हर साल और हर गांव से ली जाने वाली लागत बन गई। इसी तरह बेगूं के रावजी की हीजड़ों पर कृपा हुई तो उनके लिये ठिकाने से एक सालाना रक़म बंध गई। हीजड़े होशियार थे। उन्होंने 'अन्नदाता' से अर्ज़ करके उसे हर गाँव से वसूल होने वाली वार्षिक लागत के रूप में तब्दील करवा लिया। बिजौलिया में क़रीब ६४ लागतें ली जाती थीं। कहीं कहीं इनकी संख्या ८० तक पहुँचती थी। हिसाब लगाने पर पता चला था कि बिजौलिया के किसान को लगान और लागतें चुकाने के बाद ज़मीन की पैदावार में से सिर्फ़ १३ फ़ी सदी के क़रीब बचता था। यदि वह पशुओं का घी बेच कर थोड़ी आमदनी न कर लेता तो उस का रोज़ का गुज़र भी होना कठिन था। इससे अन्दाज़ किया जा सकता है कि राजस्थान में निरंकुश शासन प्रजा का किस बेदर्दी के साथ शोषण करता था। इसलिये बेगार के साथ साथ लागबाग का भी जनता ने सख्त विरोध किया और अनेक रियासतों में लागतों की संख्या और सख्ती दोनों में कमी हुई।

तीसरी बड़ी बुराई दासप्रथा की थी। यह सभी राजपूत

राज्यों व जागीरों में पाई जाती थी और पाई जाती है। इसका स्वरूप यह है कि हर राजा और जागीरदार के यहां हैसियत के अनुसार एक संख्या ऐसे स्त्री-पुरुषों की होती है, जिन्हें रावणा, दरोगा, चेले, चाकर या मारास कहते हैं। ये लोग सचमुच ग़ुलाम होते हैं। ये मालिक के पुश्तैनी नौकर होते हैं। उन्हें नौकरी छोड़ कर जाने का हक़ नहीं होता और जो भाग जाते हैं उन्हें रियासत में राजा या जागीरदार के असर से और बाहर चोरी वग़ैरा इल्जाम लगा कर पकड़वा लिया जाता है। फिर मालिक उसे हर तरह सताकर कसर निकालता है। खाने को बेचारों को घटिया अनाज और मालिक की जूठन दी जाती है और पहनने को उतरे हुये कपड़े। स्वामी के घर कोई शादी ब्याह होता है तो दास दासियां दहेज में दी और ली जाती हैं। नाम को इनकी शादियां आपस में करदी जाती हैं मगर उनके शरीर का स्वामी जागीरदार या राजा ही होता है। सामंतशाही के षड़यंत्र, हत्या और दूसरे बुरे से बुरे काम इन लोगों से कराये जाते हैं। इन लोगों को रक्खा ही इस ढंग से जाता है और शिक्षा ही ऐसी दी जाती है कि उनमें मनुष्योचित ग्लानियां बहुत कम बाक़ी रहती हैं। बृटिश सरकारसे यह सब छिपा नहीं था। फिर भी उसका यह दावा रहा कि उसके साम्राज्य ने संसार से ग़ुलामी की प्रथा मिटा देने के लिये क़ुर्बानियाँ की हैं। परन्तु भारत में इसी बृटिश साम्राज्य के भीतर और अंग्रेज अधिकारियों की नाक के नीचे यह प्रथा जीती

जागती मौजूद रही। इसी तरह राष्ट्र संघ में बृटिश प्रतिनिधियोंको मानना तो पड़ा कि हिन्दुस्तान में दासत्व और उससे मिलती जुलती बेगार आदि प्रथायें विद्यमान हैं, लेकिन उन्होंने यह भी बहाना किया कि इन्हें मिटाने के लिये दबाव डाला जा रहा है। किन्तु इस वचन के बाद भी राजस्थान में कई लाख स्त्री-पुरुष दास प्रथा का अभिशाप भुगत रहे हैं। लोगें भी क्यों नहीं, जब राजपूताना के ए० जी० जी० सर टॉमस हालैण्ड जैसे जानकार और बड़े अफसर तक हिन्दुस्तान छोड़ने से पहले बेगार प्रथा की तारीफ कर गये हों।

बेगार की तरह राजपूतों के अलावा दूसरे राजवर्गी लोगों में दास दासियाँ रखने की प्रथा किसी हद तक मौजूद है। खेद है कि दास प्रथा के उन्मूलन या उसकी भीषणता में बहुत बड़ी कमी करवाने में तो राजस्थान सेवा संघ का आन्दोलन सफल नहीं हुआ क्योंकि इसके शिकार बहुत ही निःसत्व हो चुके थे। लेकिन अन्धकार में फलने फूलने वाली यह गंदगी प्रकाश में काफी आई। इससे पीड़ित समुदाय के कई व्यक्तियों में मानव-गौरव की भावना जागृत हुई और उसकी रक्षा के लिये कुछ भीतरी प्रयत्न भी हुये।

चौथी बुराई साहूकारी प्रथा को देखी गई। असल में तो इसका नाम 'बेईमानी' प्रथा होनी चाहिये था क्योंकि जिस समय का जिक्र है उस समय सहयोग की मूल भावना लेने देन के व्यवहार में तो प्रायः नष्ट हो चुकी थी और केवल हृदय-

हीन शोषण बाक़ी रह गया था। मैंने इस प्रथा का परिणाम आंखों देखा है और मुझे कई बार लज्जा अनुभव हुई है कि मैंने एक ऐसे समुदाय और परिवार में जन्म लिया जो इस शोषण का गुनहगार है। इसमें साहूकार या वोहरा धुरियों या असामियों की दरिद्रता, अज्ञान और विवशता का लाभ उठा कर वेईमानी और जालसाज़ी से उनका ख़ून चूस लेने में भी नहीं हिचकिचाता। मुझे इस बात का संतोष है कि राजस्थान सेवा संघ ने अपने आन्दोलन में इस शोषण का कस कर विरोध किया और मुझे उसमें भाग लेकर थोड़ा प्रायश्चित करने का मौक़ा मिला। संघ के आन्दोलन के फलस्वरूप साहूकारों की भयंकर सूदख़ोरी, झूठे हिसाब बनाना, ग़लत रसीदें देना, सस्ता लेना और महंगा देना आदि अनेक ख़राबियां सामने आईं और शोषितवर्ग में अपने अधिकार और कर्तव्य की भावना जागृत हुई। कई जगह वेमियाद क़र्ज़ें छोड़ दिये गये या बहुत कम कर दिये गये, व्याज की दरें घटा दी गईं और ऐसी पावंदी लगा दी गई जिससे साहूकार अनुचित लाभ न उठा सकें।

एक और बुराई छोटे राजपूतों या भोमियों कन्या-वध की थी। यह प्रथा सब जगह तो नहीं थी, पर थी बड़ी अमानुषिक। इसका ज़ोर जयपुर के शेख़ावाटी इलाक़े में और मेवाड़ में अधिक था। दहेज की कुरीति और जाति के झूठे घमंड ने मनुष्यों को इतना हृदयहीन बना दिया कि वे जन्मते ही अपनी

सुकुमार बालिकाओं का गला घोंट देते। इस बारे में प्रकाशन के सिवा कोई खास नतीजा निकला नहीं मालूम होता।

जिस समय सेवा संघ के ये तरह तरह के आन्दोलन चल रहे थे, सेठीजी मध्यप्रांत और भारतके दूसरे प्रांतों में यश प्राप्त करके अजमेर लौट आये थे। उस वक्त वे ही प्रान्त के प्रमुख राष्ट्रीय नेता थे। उनका प्रभाव इतना था कि एक समय उनकी खादी की टोपी ११००) रुपये में नीलाम हुई और जब उन्हें मध्यप्रांत की सरकार के वारंट पर गिरफ्तार करके सिवनी में ले जाया जा रहा था तो जनता रेल पर उलट पड़ी और बड़ी देर तक गाड़ी को न चलने दिया। आखिर सेठीजी और भार्गवजी के समझाने पर भीड़ हटी।

एक घटना और हुई। पथिकजी के हाथों में उस पत्र की नक़ल आ गई जो राजपूताना के ए० जी० जी० हालैण्ड साहब ने महाराणा फतहसिंहजी को लिखा था। उसमें उस स्वाभिमानी शासक से गद्दी छोड़ने की साफ़ तौर पर माँग की गई थी और मेवाड़ के जन आन्दोलन की व्यापकता और उग्रता पर भय प्रकट करते हुए और उससे पड़ोस के ब्रिटिश भारतीय व रियासती इलाक़ों पर पड़ने वाले ख़तरनाक असर का जिक्र करते हुए यह सुझाया गया था कि महाराणा काफ़ी दमन नहीं कर सके। अंग्रेज़ों की इस कुचेष्टा को विफल करने की ग़रज़ से संघ ने इस विषय में मेवाड़ के लोकमत को जागृत करने का निश्चय किया। मुझे मेवाड़ में दौरे के लिये भेजा गया। मैंने भीलवाड़ा,

हमीरगढ़, छोटी सादड़ी, बड़ी सादड़ी और चित्तौड़ में सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये और महाराणा व ब्रिटिश सरकार ने अखबारों को तार दिलवाये। इन संदेशों और प्रस्तावों में कहा गया था कि जनता को कष्ट जरूर हैं, वह उनका निवारण भी चाहती है और जरूरत के माफ़िक वह अपने राजा से घर में लड़ भी लेगी, लेकिन वह विदेशी शक्ति का हस्तक्षेप नहीं चाहती और उसके द्वारा महाराणा का अपमान होना सहन न करेगी। थोड़े ही दिन बाद समाचार पत्रों में शिमले की एक चार लकीर की प्रेरित खबर निकली कि बुढ़ापे के कारण महाराणा ने युवराज को शासन के विस्तृत अधिकार सौंप दिये हैं! मैं दौरा करते हुए उदयपुर भी न पहुंच पाया था कि पथिकजी का तार पाकर अजमेर लौट आया। संघ को संतोष हुआ कि उसके विनीत प्रयत्न एक हद तक सफल हुए। फिर तो हालैण्ड साहब का वह पत्र पथिकजी के मुक़दमे की कार्यवाही में पूरा प्रकाशित हुआ और समाचार जगत् में एक सनसनी का कारण बना। अगस्त सन् १९२९ में जब मैं अजमेर लौटा तो सेठीजी सिवनी जेल से रिहा होकर आये ही थे। स्व० विट्ठलभाई पटेल कांग्रेसजनों के कुछ आपसी झगड़ों की जाँच के लिये आये हुए थे। आखिर में वे कांग्रेस का सब काम सेठीजी के सुपुर्द कर चले गये।

सितम्बर में वर्धा से मेरी गिरफ़्तारी का वारंट आया। बात यह थी कि उस वक़्त तक मैं ही 'राजस्थान केसरी' का प्रकाशक था। उसमें पुलिस की ज्यादतियों के बारे में एक संवाद छपा

था। इसी के आधार पर एक थानेदार ने मुझ पर और संपादक सत्यदेवजी पर मानहानि का दावा कर दिया।

इसी अवसर पर श्री० शंकरलालजी वर्मा और मुकुट बिहारी जी से प्रथम परिचय हुआ। दोनों ही खरे और काम चाहने वाले आदमी प्रतीत हुए। मुक़दमे में हम दोनों को तीन तीन महीने की सादी सज़ा हुई। जेलर की मित्रता और सुपरिंटेंडेंट की श्रद्धा के संयोग से हमें आराम और आज़ादी तो ग़ैर मामूली मिली, लेकिन जेल की इस पहली यात्रा में ही अंग्रेजी राज्य की अमानुषी व्यवस्था की मुहर लग गई। जेल के निर्दय व्यवहार, अनाचार और रिश्वत आदि बुराइयां आंखों देखीं और कानों सुनीं। लेकिन अधिकारियों की कृपा से हम तीन दिन पहले छोड़ दिये गये और मैं ठीक वक़्त पर अहमदाबाद की ऐतिहासिक कांग्रेस में शरीक हो सका।

वहां अजीब जोश था। कांग्रेस नगर की रचना भी अनोखी थी। बांस की टट्टी के कमरे और खादी का मंडप था। कुर्सियों के बजाय गद्दी तकियों और फ़र्श की बैठक थी। हिन्दुस्तानी भाषा की पूछ हो गई थी। प्रतिनिधियों के ठहरने का प्रबन्ध भी उतना ही सीधा सादा था। पाखाना, पेशाब के लिए खाइयां खुदी थीं। खादी की प्रदर्शनी लगी हुई थी। यह सब बातें नई थीं और गांधी युग के आगमन की सूचना दे रही थीं। मनोनीत राष्ट्रपति देशबन्धु दास गिरफ़्तार हो चुके थे और हिन्दू मुस्लिम एकता के पुजारी व शराफ़त के पुतले हकीम अजमलखाँ साहब सदारत कर रहे थे। मौलाना हसरत मोहानी

ने मुकम्मल आजादी की तजवीज पेश की थी और हमारे स्वामी कुमारानंदजी ने उनकी ताईद की थी। देश में शराब और विदेशी कपड़े के खिलाफ़ धरने का कार्यक्रम जारी था। ऐसा मालूम होता था कि अंग्रेजी राज्य मिटा चाहता है।

इन स्फूर्तिदायक अनुभवों के साथ कुछखास व्यक्तियों का सुखद परिचय भी हुआ। पुराने मित्र छोटेलालजी जैन से खादी प्रदर्शनी में मुलाक़ात हुई। उन्हीं के द्वारा साबरमतीआश्रम देखा और स्वर्गीय मगनलालजी गांधी के दर्शन किये। सब श्री० सुखसम्पत्तिरायजी भंडारी, नित्यानन्दजी नागर, हरिभाऊजी उपाध्याय, त्रिम्बक दामोदर पुस्तके और गुलाबरायजी नेमाणी से परिचय हुआ। नेमाणीजी कुछ ही समय पहले खेतड़ी ठिकाने में गिरफ्तार होकर छूटे थे। नई उम्र और देश प्रेम के भाव तो पहले से ही थे, इस आग में तप कर वह और भी निखर गये थे। पथिकजी उन्हें राजस्थान के मन चाहे नेता नजर आये। वे एक अच्छी थैली भेंट कर गये। मुझे तो बाद में भी उनकी सरलता, उदारता और सेवा भाव का परिचय मिलता रहा। इस अवसर पर इन्दौर की उड़ी जागीर के थोड़े से किसान भी आए थे। उनके अनुरोध से वहां के भीलों के कष्टनिवारण में सहायता देने का संघ ने वचन दिया और महाराजा तुकोजीराव से लिखा पढ़ी करके उन्हें कुछ राहत दिलवाई।

'राजस्थान केसरी' वर्धा में था। उसकी नीति भी देशी राज्यों की अपेक्षा कांग्रेस प्रधान हो चली थी। इधर राजस्थान के सार्वजनिक जीवन में प्राण आ रहे थे और संघ के नेतृत्व में

रियासती जनता का आंदोलन ज़ोर पकड़ता जारहा था। इसलिए संघ को एक मुख पत्र की जरूरत महसूस हुई। अहमदाबाद कांग्रेस से लौटते ही 'नवीन राजस्थान' नाम का साप्ताहिक निकाल दिया गया। उस वक्त संघ माली मोहल्ले में बख्शीजी की कोठी में आ चुका था। पत्र का पहला ही अंक निकला था कि मेवाड़ की बसी, पारसोली, थांगणमो, बोराव और लीम्बड़ी आदि जागीरों में प्रजा के असंतोष और जागीरदारों के दमन की आग भड़क उठने के समाचार आने लगे और कार्यकर्त्ताओं की मांग बढ़ने लगी। श्री० माणिक्यलालजी तो स्थिति सम्हाल ही रहे थे, पथिकजी ने मुझे भी भेजना जरूरी समझा। मेरे रवाना होने से पहले मेवाड़ राज्य में पथिकजी के प्रवेशनिषेध का हुक्म जारी हो गया था और ब्रह्मचारी हरिजी को श्री० नंदलाल वैद्य नामक युवक और सौ किसानों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया था। हरिजी को अदालत में हाज़िर किये बिना ही दो साल की कड़ी कैद की सजा दे दी गई!

इन्हीं दिनों सिरोही के सम्बन्ध में एक घटना हुई। वहां के महारावल स्वरूप रामसिंहजी का एक फ़क़ीर की सोहबत से इस्लाम की तरफ़ झुकाव हो गया। फ़क़ीर चालाक आदमी था। उसने राजा पर इतना प्रभाव जमा लिया कि शासन में दखल देने लगा और काफ़ी सम्पत्ति बना ली। बाद में कोई विस्फोट हुआ और फ़क़ीर का माल हथियाने के सिलसिले में अजमेरके एक पुलिस इन्सपैक्टरको लम्बी सजा काटनी पड़ी।

जब मैं मेवाड़ पहुंचा और आन्दोलन के क्षेत्रों में गया तो जनता जोश में और शोषक वर्ग उसे दबा देने में अन्धे हो रहे थे। खुद मुझे अपने में भी असाधारण शक्ति महसूस हुई। कमजोर शरीर होने पर भी २० मील रोज़ जंगलों और पहाड़ों में पैदल चलने में थकान न होती। हज़ारों नर नारियों का सदियों की पीड़ा और निद्रा से उठना बड़ा मोहक दृश्य था। जिस सौन्दर्यमयी दयामयी प्रकृति की गोद में ये भोले भाले प्राणी बसते थे उसमें विचरण करना अच्छा लगता था। उनके विशाल समूहों में बोलते हुए ऐसा ज्ञात पड़ता था कि समुद्र की लहरों पर तैर रहा हूं। निराशा से मुर्झाये हुए असंख्य चेहरों पर आशा की झलक देख कर संतोष होता था कि अपने हाथ से सचमुच कुछ सेवा हो रही है। इस आन्दोलन का असहयोग के राष्ट्रीय संग्राम से सीधा सम्बन्ध न होने पर भी उसका व्यापक और प्रबल असर तो था ही। स्त्रियों की जाग्रति, कुरीति निवारण, मद्य निषेध, विलायती कपड़ों की होली और खादी व शिक्षा का प्रचार आदि राष्ट्रीय कार्यक्रम के सभी अंग अपना लिये गये थे। रूसी राज्यक्रान्ति की प्रेरणा भी थोड़ी बहुत काम कर रही थी। जब किसानों को यह कहा जाता कि एक महान देश में ग़रीबों के ही हाथों में राजसत्ता की सारी बागडोर आगई है तो उनकी आँखों में अद्भुत उत्सुकता दिखाई देती और वे सहसा पूछ बैठते, "क्या अपने यहां ऐसा नहीं हो सकता ?" इस आन्दोलन ने छुआछूत के रोग को भी काफ़ी

धक्का पहुँचाया। ऐसे सुखद प्रसंग भी देखने में आये कि जिन हरिजनों को पास नहीं बिठाया जाता था वे पंचायतों के अध्यक्ष और सभाओं के सदर बने। मन्दिरों और कुओं सम्बन्धी बंदिशें भी ढीली पड़ीं।

जनता को न दबती देख कर जागीरदारों के क्रोध की आग हद से बाहर जाने लगी और स्त्रियों पर भी अत्याचार होने लगे। किसानों ने क़ैद, जुर्माने, मारपीट और बड़ीं २ गोलियां तक सह ली थीं। फ़सलों का नष्ट किया जाना, जंगल से घास लकड़ी न लाने दिया जाना और पशुओं को घर से बाहर न निकलने देना आदि जुल्म उन्होंने बर्दाश्त कर लिये थे। मगर औरतों पर हाथ उठने लगा तो वे तिलमिला उठे। इस बारे में बेगूं के छुटभइया रावड़दे के ठाकुर का व्यवहार बहुत निन्दनीय था। उसने एक मालिन को सरे बाज़ार अपने आदमियों से घसीटवाया और एक भीलनी को औंधी लटकवा कर पिटवाया। सेमलिया के ठाकुर ने भी बहुत ऊधम मचाया था। उसे तो किसानों ने पीट भी दिया। रावड़दा से भी बदला लेने पर उतारू हो गये। अंत में समझाने बुझाने पर यह तय हुआ कि सैंकड़ों की संख्या में लोग ठाकुर के 'रावले' पर सत्याग्रह करें। जब पहुँचे तो ठाकुर बंदूक़ तान कर खड़ा हो गया। उस दिन रामनिवस शर्मा नामक एक साधारण कार्यकर्त्ता की बहादुरी ने बाज़ी किसानों के हाथ रक्खी। वह अपढ़ सा देहाती छाती खोल कर सामने खड़ा हो गया। ठाकुर की तलवार म्यान में

ही रही और सत्याग्रही दोनों पीड़ित बहनों को छुड़ा कर विजय पताका फहराते हुए घर ले आये।

इस घटना ने किसानों के दिलों में एक गंभीर खतरे की आशंका भर दी। उन्होंने स्त्रियों के मान की रक्षा के प्रश्न पर गंभीर हो कर सोचा। आखिर सन् १६२२ की वसंत पंचमी के दिन बिजोलिया में तिलसवां मुक़ाम पर एक 'कॉंग्रेस' हुई। कई इलाक़ों की पंचायतों के इकट्ठे बड़े सम्मेलन को इसी नाम से पुकारा जाता था। उसमें आन्दोलन के सभी क्षेत्रों से, पूर्व मेवाड़ के हर हिस्से से सैकड़ों स्त्री पुरुष प्रतिनिधि आये। आस पास के बून्दी, कोटा, झालावाड़, ग्वालियर और इन्दौर के इलाक़ों से भी दर्शक उपस्थित हुए। यह पहला सम्मेलन था जिसमें अलग अलग प्रदेशों के लोगों ने मिलकर विचार किया, शरीक रह कर लड़ना तय किया और जागीरदारों और राज्य को एक साफ़ प्रस्ताव के ज़रिये चेतावनी दी कि स्त्रियों का अपमान किया गया तो अच्छा नतीजा नहीं निकलेगा और मजबूर होकर आत्म रक्षा का अधिकार काम में लिया जायगा। उसके बाद स्त्रियों पर सीधी ज्यादती होना बंद हो गया!

इधर ब्रिटिश सरकार मेवाड़ के इस व्यापक, तीव्र और प्रबल आंदोलन से परेशान थी। इस का असर भीलों में भी पहुँच गया था। जिन दिनों पूर्वी मेवाड़ में सत्याग्रह की बाढ़ आ रही थीं उन्हीं दिनों पश्चिमी मेवाड़, सिरोही, पालनपुर, दांता, सूंथरामगढ़ और मारवाड़ के भील प्रदेशों में भी असंतोष

की आग भड़क उठी। वहाँ मोतीलालजी तेजावत नामक एक साधारण पढ़े लिखे वैश्य ने राजस्थान सेवा संघ से प्रेरणा पाकर समाजसुधार, आर्थिक उद्धार और राजनैतिक जागृति का काम शुरू कर दिया था। इस सारे असंतोष का स्रोत बिजौलिया से शुरू हुआ था। इसलिए अंग्रेजी हुकूमत ने उदयपुर पर दबाव डालकर पहले इसी को बंद करने का फ़ैसला किया। एक बड़ा सा कर्मचारी मंडल वहाँ पहुँच गया। सरकार की तरफ़ से ए० जी० जी० हालैंड साहब, उनके सेक्रेटरी ओगलवी साहब और मेवाड़ के रेजीडेंट विल्किन्सन साहब, रियासत की ओर से बाबू प्रभाश चंद्र चटर्जी दीवान और पं० बिहारीलाल जी कौशिक हाग (सायर) हाकिम, और ठिकाने के प्रतिनिधि के तौर पर कामदार हीरालालजी, फ़ौजदार तेजसिंह जी और मास्टर ज़ालिमसिंहजी इस मंडली में थे। किसानों को बुलाया गया तो उन्होंने राजस्थान सेवा संघ के नुमाइंदों को बुलानें पर ज़ोर दिया। मैं उन दिनों वहीं था। संघ के मंत्री की हैसियत से मेरे नाम ए० जी० जी० के कैम्प से इस आशय का ख़त आया कि साहब रावजी व किसानों में समझौता कराने आए हैं। आप सहायता देंगे तो मैं ख़ुश होऊंगा। सत्याग्रहियों की तरफ़ से मैं, माणिक्यलालजी, पंचायत के सरपंच मोतीचंदजी और मंत्री—ये चार आदमी गए थे। बिजौलिया के बाहर एक बग़ीचे में साहब का डेरा था। वहीं खुले मैदान में संधि परिषद की बैठक शुरू हुई।

वह दृश्य बिजौलिया के, शायद राजस्थान के इतिहास में अभूतपूर्व था। सारे इलाक़े की जनता मानों वहाँ उमड़ आई थी। सत्याग्रही विजयगर्व अनुभव कर रहे थे। परंतु उनमें मर्यादा का अभाव न था। यह आधुनिक राजस्थान की तारीख में पहला मौक़ा था कि किसान जैसी दबी हुई जाति को सिर ऊँचा करना नसीब हुआ। जो लोग पैरों में बिठाये जाते थे उन्हीं के प्रतिनिधियों को सम्राट, महाराणा और रावजी के प्रतिनिधियों के बराबर कुर्सियाँ मिलीं, जिन 'बड़े साहबों' के दर्शन दुर्लभ होते हैं उन्हें एक दिन के बजाय आठ दिन ठहरना पड़ा और जिन आन्दोलनकारियों को भयंकर प्राणी समझ कर दूर रखने के लिए सौ जतन किये जाते हैं उनकी सहायता माँगी गई। इतना ही नहीं, उस दिन तो ऐसा दिखाई पड़ा मानों नेतृत्व राज्य सत्ता के हाथ से निकल कर जनता जनार्दन के हाथ आ गया हो। भीड़ को व्यवस्थित करने का काम ठिकाने की पुलिस के बजाय पंचायत के बूढ़े कोतवाल देवाजी ने किया।

इस वायुमंडल में समझौते की बात चीत शुरू हुई। किसानों का शिकायत नामा पेश हुआ। हालैंड साहब एक एक मुद्दा पढ़ कर सुनाते और दोनों पक्ष की दलीलें सुनते। छोटी मोटी लागतों वग़ैरा पर कोई बहस न हुई और वे माफ़ करदी गईं। इस एक शब्द में वे जिस सफ़ाई और आत्म विश्वास के साथ फ़ैसला देते थे उससे मालूम होता था कि उस आदमी को

अपने अधिकार का कितना भान, अपने कर्त्तव्य-पालन का कैसा दृढ़ निश्चय और समय और स्पष्टता का कितना खयाल था। ठिकाने के प्रतिनिधियों के उत्तर अक्सर लम्बे लेक्चर और वाद-विवाद से भरे होते थे। इस पर हालैंड साहब को एक से अधिक बार कहना पड़ा—'मुझे लेक्चर नहीं चाहिये।' इधर किसानों के पंच छोटा-सा और स्पष्ट उत्तर देते। साहब ने उनकी तारीफ़ की और विपक्षियों को उनसे सबक़ लेने का संकेत किया। मैंने पहली बार अंग्रेज़ों का अनुशासन देखा और दंग रह गया। साहब ने सत्याग्रहियों के संयम-व्रत के प्रथम दर्शन किये और प्रशंसक बन गये। उधर हॉलैण्ड साहब बोलते और उनके दूसरे साथी मूर्ति की तरह बैठे देखते या उनका लिखाया लिखते। इधर मोतीचंदजी जवाब देते और बाक़ी लोग चुपचाप सुनते रहते। साहब ने अपना पाइप जलाया तो सरपंच महोदय ने चिलम सुलगा ली। किसानों ने समता का भाव प्रकट किया और साहबों ने मुस्करा कर उनकी क़द्र की। सवाल जवाब बहुत थोड़े विषयों पर हुए। किसान पक्ष के उचित होने की अधिकारियों पर छाप पड़ चुकी थी। उन्हें व्यापक दृष्टि से राजस्थान के असंतोष की इस जड़ को मिटाना ही था। हाँ, अपनी परम्परा की नीति अनुसार वे अंग्रेज भी फ़ौज साथ लाये थे। अलबत्ता उसे दस मील दूर माँडलगढ़ में रक्खा था। किसानों को आश्चर्य तो हुआ और उन्होंने फ़तहसिंह को आदर सहित याद किया कि उस बूढ़े

भारतीय ने निरंकुश शासक होकर भी पेट के लिए लड़ने वालों पर कभी सैनिक चढ़ाई नहीं की। फिर भी वे भयभीत न हुए और समझौते की बातचीत खूब आत्म सम्मान के साथ हुई। अंत में बेगार का प्रश्न आया। मैं और हॉलैण्ड साहब पास ही आमने सामने बैठे थे। साहब बोले, 'There is the rub, Mr. Choudhri' बड़ी घाटी तो यह है। मैंने यह कह कर उनको तसल्ली दी कि न्याय और सद्भावना के सहारे इसे भी पार किया जा सकता है। उन्होंने एक मसौदा बनाया और पंचों को दिया। वह नामंजूर होकर लौट आया। साहब ने मेरी राय मांगी। उनका प्रस्ताव इस आशय का था, 'किसान अपना यह फर्ज स्वीकार करते हैं कि जब कोई राजकर्मचारी उनके गाँव में आयेगा तो वे उचित कीमत पर उसे सवारी, मजदूरी और सामान जुटा देंगे।' मैंने 'फ़र्ज़' की जगह 'सामाजिक धर्म' रक्खा, 'राजकर्मचारी' शब्द उड़ा दिया, 'जुटा देंगे' के स्थान पर 'जुटाने की भरसक कोशिश करेंगे' और वाक्य के आख़ीर में यह अंश जोड़ दिया कि 'क़ीमत का निर्णय सर पंच करेगा और ज़बरदस्ती किसी हालत में न की जायगी।' किसानों ने अपनी सद्भावना के प्रमाणस्वरूप इतना और बढ़ा दिया कि 'महाराणा साहब व रावजी की सेवा का कोई मूल्य नहीं लिया जायगा।' साहब बोले—'ज़ाहिरा ढांचे को बहुत न छेड़ कर भी आपने तो भीतर से मेरी तजवीज़ की काया ही पलट दी।' किसानों को संबोधन करके उन्होंने कहा, 'मेरे लिए तो

आपने जगह ही नहीं रखी'। इसमें विनोद भी था और गांभीर्य भी, परन्तु किसानों का अभिप्राय स्पष्ट था। सब कुछ होने पर भी अपने राजा के लिए उनके दिल में जो कोमल भाव था वह स्थान एक विदेशी नौकरशाह को वे कैसे दे सकते थे? हॉलैंड साहब की आलोचना ठीक थी। मेरे संशोधन ने प्रस्ताव को व्यापक बनाते हुए भी उसे बिल्कुल स्वेच्छामूलक कर डाला था, सरकार द्वारा मनोनीत पटेल की हस्ती मिटाकर चुनी हुई पंचायत को आसन पर बिठा दिया था और एक तरह से पंचायत की सत्ता पर सरकारी स्वीकृति की मुहर लगादी थी। इतना होने पर भी बेगार के खिलाफ सार्वजनिक असंतोष की तीव्रता को देखते हुए साहब को शक था कि किसानों को वह शायद मंजूर न होगा। उन्होंने मुझे अपनी आशंका बताई भी। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि मेरी तजवीज को ज्यों की त्यों मान लिया गया तो किसान रजामन्द हो जायँगे। साहब ने अपनी मंजूरी की घोषणा की। किसानों ने स्वीकृति दी और जनता ने 'वंदेमातरम्' के गगनभेदी नारे के साथ उसका समर्थन किया। मुझे यह जान कर संतोष हुआ कि सरकार, रियासत, ठिकाना और जनता सबके प्रतिनिधियों को समझौते की शर्तें पसंद आईं।

बिजौलिया का सत्याग्रह इस तरह शानदार जीत के साथ खतम हुआ। जिन २ क्षेत्रों में आन्दोलन चल रहे थे सभी को पीड़ित प्रजा को काफी प्रोत्साहन और प्रत्यक्ष लाभ मिला।

जागीरदारों ने हर जगह किसानों की मांग थोड़ी या बहुत मंजूर कर लीं। इन अन्नदाताओं के भावी जीवन में सुख की सांस लेने की आशा बंधी और सत्ताधारियों में दमन की व्यर्थता का खयाल पैदा हुआ। मगर ब्रिटिश सरकार तो दूसरे ही मसाले की बनी हुई थी। उसने दूसरी जगहों पर जोर आजमाने का निश्चय किया। इसके लिए बेगूं को चुना गया। मगर इसका जिक्र तो आगे करूंगा। यहां इतना ही कहना है कि अब संघ नें बिजौलिया की जागृति का उपयोग जनता की शक्ति को स्थाई और दृढ़ बनाने में करने का निश्चय किया। रचनात्मक कार्य-क्रम बनाया गया। उसके अनुसार शिक्षा प्रचार, अछूतपन मिटाना, नशा निषेध और ग्रामरक्षा वग़ैरह कई तरह की प्रवृत्तियां जारी की गईं। इस कार्यक्रम को गति देने के लिए मुझे मुक़र्रर किया गया। अवश्य ही माणिक्यलाल जी तो हर काम में हर जगह रहते ही थे। सच तो यह है कि जयपुर हो या सिरोही, बूंदी हो या मेवाड़, जहां भी देहाती जनता के सीधे संगठन का काम होता वहीं पथिकजी नेता और माणिकलालजी कार्यकर्त्ता होते थे। दूसरे शब्दों में, रियासती जाग्रति के प्रारंभिक यज्ञ में इन दो आदमियों ने जो कारगुजारी दिखाई वह सोने के हरफ़ों में लिखे जाने योग्य है। बिजौलिया के इस रचनात्मक काल में मेरे निकट के सहायक साधु सीताराम दास जी थे। हमने मेवाड़ी भाषा में एक हाथ का लिखा साप्ताहिक पत्र भी निकाला, जिसका नाम 'ऊपर माल को डंको' रक्खा

गया। उस की हर चोट की गूँज सभी सत्यग्रही क्षेत्रों में होने लगी।

अंजनादेवी भी इस काम में मेरे साथ थीं। इस बेपढ़ी लिखी महिला ने शुरू से ही मेरे देश के दुर्गम मार्ग को सुगम बनाने में सच्ची सहधर्मिणी का कर्त्तव्य निभाया। मुझे याद है जब १९१७ में उसे युवा अवस्था में बम्बई जैसे दूर स्थान पर तालीम के लिये अकेली को भेजा गया तो उसने खुशी से मंजूर किया। जब १९१८ में श्रीमती जानकी बहन ने पर्दा छोड़ने में जल्दी न करने की सलाह दी तो भी उसने साहस के साथ कट्टर—पंथी समाज का विरोध सहन किया। इसी तरह राजस्थान सेवा संघ में शरीक होने पर जब दरिद्रता का व्रत लिया गया तो उसने निःसंकोच होकर अपने जेवर पिताजी को भेंट कर दिये और फिर कभी वस्त्राभूषणों की लालसा प्रगट नहीं की। लेकिन कमजोर स्वास्थ्य होते हुए भी उसने जिस सहनशीलता, बहादुरी और त्याग के साथ मेरे मेवाड़ के सेवा कार्य में हाथ बंटाया उस पर किसी भी देश—प्रेमी पति को गर्व हो सकता है। मेवाड़ और बूंदी दोनों राज्यों में अंजनादेवी ने स्त्रियों में प्रचार का काम किया। पुरस्कार स्वरूप जहाजपुर ज़िले में वे गिरफ्तार हुईं और बूंदी राज्य से कई वर्ष तक निर्वासित रहीं।

इस बीच में ब्रह्मचारी हरिजी उदयपुर की सेंट्रल जेल में रख दिये गये थे। वहां से उन्होंने जो समाचार प्रकाशित कर-

बाये उनसे रियासती क़ैदखानों की रोमांचकारी ज्यादतियों से प्रान्तीय वायुमण्डल गूंज उठा। खास कर 'गंगारामा' की करामात पर बड़ी उत्तेजना फैली। यह एक हाथ का जूता था जो चीं चपड़ करने वाले क़ैदियों को ठीक करने के लिए इस्तेमाल किया जाता था।

इधर बिजौलिया के सम्बन्ध में कुछ मोटी बातें तय होना रह गई थीं और इस काम को पूरा करने के लिए दीवान प्रभाशचन्द्रजी अजमेर आये हुए थे। पथिकजी के बुलावे पर मार्च १९२२ में मैं भी आ पहुंचा।

इसी बीच में भीलों का मामला बहुत गम्भीर हो चुका था। पं० रमाकांत मालवीय सिरोही के दीवान थे। तेजावत जी के बुलावे और मालवीयजी के सद्भाव के साथ पथिकजी भील क्षेत्र में हो आये थे। वहाँ उनका फ़ौजी और शाही ढंग से स्वागत हुआ। लेकिन उनके लौट आने के बाद स्थिति बिगड़ गई। रियासतें कुछ असली चीज़ देना नहीं चाहती थीं। राजपूताना एजेंसी का रुख कड़ा था। भील भूखे और भड़के हुए थे। कार्यकर्त्ता थोड़े थे। नेताओं का निकट सम्पर्क नहीं था। हालत न संभलने पायी। सिरोही में दो तीन जगह गोलियाँ चल गईं। माणिक्यलाल जी तो भीलों के आश्वासन और मार्ग दर्शन के लिए पहले ही भेज दिये गये थे। अब मुझे और सत्यभक्त जी को जांच और राहत कार्य के लिए नियुक्त किया गया। इस अवसर पर राजपूताना की अंग्रेज एजेंसी ने बड़ी

बेरहमी और झूठ से काम लिया। एक तरफ़ उसके अफ़सरों की मातहती में सेना ने नृशंस अत्याचार किये तो दूसरी तरफ़ कष्ट निवारण के काम की भी मनाई करदी गई। दलील यह दी गई कि यह काम रियासत की तरफ़ से हो रहा है और कष्ट पीड़ित जनता बाहर वालों की मदद नहीं चाहती। इसके विरुद्ध, हमारे पास तारों, पत्रों और सन्देशवाहकों के द्वारा सहायता की मांग आरही थी। इसलिए हम दोनों पिंडवाड़ा स्टेशन पर उतर कर वहाँ के सहृदय स्टेशन मास्टर की मदद से रातों रात माणिक्यलाल जी के पास पहुंच गये। सलाह मश्विरे के बाद सुबह होते ही दो मार्ग दर्शकों को साथ ले उन स्थानों पर पहुंचे जहाँ फौजी कार्रवाई की गई थी। इस हत्याकांण्ड का कोप भूला और बालोलिया नामक दो गाँवों पर खास तौर पर हुआ था। पचासों भील मशीनगन के शिकार हुए थे, सैकड़ों घर जला कर खाक कर दिये गये थे और दरिद्रता के साक्षात् अवतारों का क्षुद्र अन्न भंडार या तो लूट लिया गया था या आग के हवाले कर दिया गया था। हम लोग हत्याकाण्ड के चौथे पाँचवे दिन मौक़े पर पहुंचे थे, मगर अनाज की कोठियां अभी तक जल रही थीं।

भील ग्रासियों का क़सूर भी यही था कि उन्होंने शराब छोड़ दी थी और राज्य व साहूकारों के अत्याचारों से राहत पाने की कोशिश की थी। उनकी मुख्य मांग इतनी सी थी कि बढ़ा हुआ लगान घटाकर पहले की तरह हल्का कर दिया जाय,

बेगार और लाग बाग बन्द करदी जायं और बोहरों के कर्जों से राहत दी जाय। हम दोनों शाम तक कोई बीस मील धूप में भूखे प्यासे तपते हुए पहाड़ों में भटके होंगे, परन्तु हमें यह कष्ट कुछ भी नहीं अखरा, क्योंकि हमें यह सन्तोष था कि हम अपने पीड़ित और निःसहाय भाइयों को कुछ आश्वासन दे सकेंगे और इन पर गुजरे हुए जुल्मों को दुनियां पर प्रकट करके भविष्य के लिए इनकी कुछ रोक कर सकेंगे। आतंक तो काफ़ी छाया हुआ था। फिर भी स्त्री पुरुष हमसे मिले और हम काफ़ी सामग्री इकट्ठी करने में सफल हुए। आधी रात तक हमने पीड़ितों के बयान लिये और फिर बाटियां व बकरी का दूध लाकर रोहिड़ा स्टेशन पर आ सोये। दूसरे दिन अजमेर पहुंचे। जब हमारा बयान अखबारों में निकला तो नौकरशाही और चाकरशाही के कान खड़े होगये। उन्हें गुस्सा भी आया और ताज्जुब भी हुआ कि इनके कड़े घेरे को भेद कर हम घटनास्थल पर कैसे पहुंच गये और इस आतंकपूर्ण वातावरण में भी इनकी दृष्टि से खतरनाक सामग्री जुटा लाये। जब हमारी रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो सरकार और रियासत भी तिलमिलाई।

सेवा संघ ने एक अस्त्र का अच्छा उपयोग किया। भारतीय विधान के अनुसार रियासती मामलों की चर्चा यहां की धारा सभाओं में तो हो नहीं सकती थी, इस कारण हमारे आन्दोलन के लाभ की दृष्टि से ये संस्थाएं बेकार थीं। मगर बृटिश पार्लियामेंट के लिए कोई ऐसी मर्यादा नहीं थी। हमने वहां की एक

महिला सेविका बहन एनी हडसन की मार्फत कुछ मजदूर सदस्यों से सम्बंध जोड़ लिया था। हमारा प्रचार विभाग तो तगड़ा था ही। हमारा हर महत्व पूर्ण पर्चा या बयान उनके पास जाता था। विशेष घटनाओं और विषयों पर हम विशेष विवरण भी भेजते थे। उनके आधार पर समय समय पर पार्लियामेंट में प्रश्न पूछे जाते थे। इस काम में पिछले भारत मंत्री मि० पेथिक लारेंस हमारे खास सहायक थे। उन प्रश्नों पर भारतीय सरकार और सम्बन्धित रियासतों से जवाब तलब होता और उसका नैतिक लाभ प्रजा को मिल जाता था। हमारे प्रचार विभाग की सूची में भारत के अंग्रेजी व देशी भाषाओं के सभी पत्रों के सिवाय कई बृटिश, अमरीकन और दूसरे विदेशी अखबार भी थे। उनमें भी कई बार सम्वाद और टिप्पणियां निकलती थीं।

भीलों का क़िस्सा खत्म हुआ ही था कि बून्दी के बरड़ इलाक़े से समाचार आए कि वहां की सेना ने किसानों और उनकी स्त्रियों तक पर हमला कर दिया है। नानक नामक एक भील मारा गया। कुछ गोलियों के घायल अजमेर भी पहुँचे। अजमेर की सरकारी संस्थाओं का वातावरण कितना दूषित है, इसका पता हमें उस अवसर पर मिला जब बूंदी के घायलों को विक्टोरिया अस्पताल से डाक्टरी सर्टीफ़िकट भी आसानी से नहीं मिला। इस बार मैं और सत्यभक्तजी मौक़े पर भेजे गए बरड़ की जनता से हमारा परिचय तो था ही। बिजौलिया से

लगे हुये बूंदी के इस बीहड़ इलाक़े में हम कई बार जा चुके थे, हरिजी वहाँ कठोर तपस्या की स्थिति में काम कर चुके थे और पं० नयनूरामजी वहीं से गिरफ्तार होकर बूंदी जेल में पहुंच चुके थे। हम जांच के लिए पहुंचे तो वातावरण बड़ा क्षुब्ध था। राज्य की घुड़सवार सेना ने सत्याग्रहिणी स्त्रियों पर घोड़े दौड़ा कर और भाले चला कर पाशविक हमले किये थे। किसी की आँख पर चोट आई थी, किसी का हाथ तोड़ दिया गया था तो किसी का सर फोड़ दिया गया था। इन बहादुर बहनों ने अपने मर्दों का साथ देकर बेगार, लाग बाग और लगान की ज्यादती का विरोध किया था। रिश्वत बून्दी का सबसे बड़ा अभिशाप था। ऊपर से नीचे तक प्रायः सभी राज—कर्मचारी जनता को खुले हाथों लूटते थे। बरड़ की प्रजा ने इसकी भी खुली मुखालिफ़त की थी। अस्तु, हमारी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। प्रजा की कुछ शिकायतें दूर हुईं। हमारा रियासत में प्रवेश बन्द कर दिया गया।

बिजौलिया सत्याग्रह की जीत ने आस पास के इलाक़ों पर काफ़ी असर डाला। काम करने की अनुकूलता सभी जगह बढ़ी। चोर डाकुओं तक पर प्रभाव हुआ। उदाहरणार्थ, एक दिन एक सुनार ने आप बीती सुनाई। वह सिंगोली (ग्वालियर) से बिजौलिया आ रहा था। रास्ते में पहाड़ चढ़ते समय डाकुओं ने आ घेरा। सुनार होशियार और सत्याग्रही दल का आदमी था। देखते ही उसने डाकुओं से 'वन्देमातरम्' के साथ अभिवादन किया। डाकू उसे छोड़ कर भाग गये।

इसी घाटी को उत्तर पूर्व में पार करके धांगणमऊ बोराव का इलाक़ा है। यह मेवाड़ के भू० पू० दीवान मेहता बलवन्तसिंहजी की जागीर में था। मेहता खानदान का उदयपुर के राजनैतिक हल्क़ों में बहुत प्रभाव रहा है। इस कारण धांगणमऊ बोराव के किसानों की और भी निस्सहाय अवस्था थी। १६२२ की वर्षा ऋतु में मुझे वहां काम देखने जाना पड़ा। मेरे साथ साधु सीताराम दास जी और स्व० प्रेमचन्दजी भील भी थे। प्रेमचन्दजी देवगढ़ जागीर के सांगा की बड़ी नामक गांवड़े में पैदा हुए थे। सम्वत् १६-५६ के अकाल में वे अनाथ होकर अजमेर के दयानन्द अनाथालय में पहुँचे। वहां से लाला लाजपतरायजी उन्हें लाहौर ले गये। वहीं उनका पालन और शिक्षण हुआ। वे हिन्दी, उर्दू, संगीत और बढ़ईगिरी जानते थे। कविता भी कर लेते थे। मेवाड़ी भाषा में उनके गीतों ने ग्राम जागृति का खूब काम किया। उनकी रचनाओं में माणिक्यलालजी का सा कवित्व या 'पंछीड़ा' जैसा ओज तो नहीं था, मगर वे ज्यादा सरल और चलते हुए होते थे। मेरा उनका परिचय सन् १६२१ में हुआ। तब से वे बराबर देश सेवा का काम करते रहे और इसी को करते करते वे सन् १६३६ में मरे। वे बड़े सरल, नम्र और हंस-मुख थे। वे जिस दरिद्र और पीड़ित वर्ग में जन्मे उसी की सेवा में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी।

हाँ, तो हम तीनों कार्यकर्त्ता एक दिन किसान पंचों से सलाह कर रहे थे कि क़रीब दो दर्जन घुड़सवारों ने हमें आ

घेरा। उनके पास कोई वारण्ट नहीं था। उन्होंने हमारी मुश्कें बांध लीं और बरसते पानी में हमें पैदल ले गये। तीन मील पर कुआ खेड़ा की नियावत थी। वहाँ हमारे दोनों पाँवों में डंडेदार बेड़ियां पहना दी गईं और सिपाहियों के पहरे में एक गंदी सी जगह सोने बैठने को बता दी गई। उस दिन शाम को खाने को भी नहीं दिया गया। दूसरे दिन सुबह आध छटाँक दाल, थोड़ा नमक मिर्च और आधा सेर आटा दिया गया। लकड़ियाँ और कंडे आस पास से बीन लाने की आज्ञा हुई। हमने इस दुर्व्यवहार और अपमान के विरोध में भूख हड़ताल कर दी। तीसरे दिन हमें नायब हाकिम के रूबरू पेश किया गया। उन्होंने असभ्य भाषा में जली कटी सुना कर वापस किया। साथ ही हमारी एक एक बेड़ी निकलवा दी गई, खाने के सामान में सुधार किया गया और साधारण व्यवहार भी अपमानजनक नहीं रहा। यह इलाक़ा जहाजपुर ज़िले के आधीन था। वहाँ उस वक़्त बिन्दुलाल जी भट्टाचार्य नामक शिक्षित हाकिम थे। मेरा इनसे पहले का परिचय था। चौथे दिन उनका हुक्म आया, हमारा जहाजपुर के लिये चालान हुआ। हमें बेड़ी सहित ऊँटों पर बिठा दिया गया और साथ में घुड़सवारों का एक दस्ता चला। किसानों का एक बड़ा दल हमारी गिरफ़्तारी के समय से ही हमारी हवालात के बाहर धूनी रमाये पड़ा था। उसने तुरन्त बिजौलिया ख़बर भेज दी थी। जब हम उधर से निकले तो माणिक्यलालजी, अंजनादेवी और सैकड़ों

किसान हमसे मिलने की आशा में मौजूद थे। मगर मेवाड़ी अंधेरगर्दी जो ठहरी, जेर तजवीज क़ैदियों को अपने नजदीकी सम्बन्धियों और इष्ट मित्रों से भेंट नहीं करने दीगई। तीसरे दिन हम जहाजपुर पहुँचे तो रास्ते में हमारी बेड़ियां निकलवा दी गई थी। जब हमने नगर में प्रवेश किया तो एक बरात का सा शानदार जुलूस बन गया था। एक रोज़ तो हम हाकिम साहब के मेहमान रहे और दूसरे दिन पहाड़ पर क़िले में भेज दिये गये। वहां हम तीनों और हमारे पहरे दारों के सिवाय और कोई नहीं रहता था। खाने पीने का सब सामान नीचे से आता था। व्यवहार और इंतज़ाम संतोष जनक था। भोजन बनाने, पानी भरने और सफ़ाई आदि करने के लिए अलग अलग आदमी रख दिये गये थे। जब हमें मालूम हुआ कि उनसे बेगार में काम लिया जाता है तो हमने विरोध किया। बिन्दूलालजी ने मजदूरी देने का आश्वासन दिया। कोई तीन सप्ताह हम क़िले पर रहे। वहां का प्राकृतिक दृश्य मनोहर था और दूर दूर तक का प्रदेश साफ़ दिखाई देता था। हमारे पहरेदारों के हवलदार एक सभ्य मुसलमान थे। उनके पास दूरबीन थी और शायरी व सितार का शौक़ था। हमें उनकी संगति से बड़ा आनन्द मिला।

बिन्दूलालजी अखबार भी रोज भेज देते थे। एक दिन उन्होंने हमें नीचे बुलाया और महकमा खास का एक तार दिखाया। उसका आशय यह था कि अंजना देवी पर गोली

चलने और उन्हें गिरफ्तार करने के समाचार प्रकाशित हुए हैं। जांच करके रिपोर्ट भेजो।

बात यह हुई थी कि खैराड़ प्रदेश में अमरगढ़ एक जागीर है। ये मीनों का इलाक़ा है। मेवाड़ सरकार इन्हें जरायम पेशा जाति मानती थी, रोज़ाना दो बार इनकी पुलिस में हाज़िरी होती थी और वे बिना इजाज़त लिये बाहर कहीं जा नहीं सकते थे। उनपर और भी बहुत सी ज़्यादतियां होती थीं। तंग आकर उन्होंने राजस्थान सेवासंघ की शरण ली। इसलिये अंजनादेवी कुछ स्थानीय बहिनों को साथ लेकर बिजौलिया से अमरगढ़ पहुंच गईं। वहाँ पर बिना वारंट गिरफ्तार कर ली गईं। थानेदार ने उनको अलग अलग हवालात में बन्द करना चाहा और इनकार करने पर गोली चलाने के लिये बन्दूक तान ली। मगर इस धमकी का किसी भी देवी पर कोई असर न हुआ। आखिर वे सब एक साथ बन्द कर दी गईं। देशी राज्यों की आज़ादी की लड़ाई में किसी स्त्रीकी यह पहली गिरफ्तारी थी।

कोई २१ दिन हम जहाजपुर के किले में रखे गए। इस बीच में कोई क़ानूनी कार्रवाई नहीं हुई। न हम बाक़ायदा किसी मजिस्ट्रेट के सामने पेश किये गये, न कोई रिमांड लिया गया। चौथे सप्ताह हमें ऊंटों पर सवार करवा कर घुड़सवारों की निगरानी में उदयपुर भेज दिया गया। इसकी खबर पाकर अंजनादेवी वग़ैरा मांडल स्टेशन पर और हरिभाई जो उसी दिन अपील में बरी होकर उदयपुर से लौटे थे गाड़ी में हमसे

मिल लिये । उदयपुर पहुंच कर हमें दीवान प्रभाशचन्द्रजी के बंगले पर ले जाया गया । वहां हमारी बेड़ियां निकलवा दी गई और हमें शहर से तीन मील दक्षिण में गोरधन विलास नामक गांव में भेज दिया गया । यहां महाराणा की निजी गौशाला थी । स्व० फतहसिंहजी को घोड़ा और गायों के सुधार का शौक था और यह गौशाला उसी का केन्द्र थी । यहां महाराणा कई बार आया करते थे । पहले तो हमें महलों में ही रखा गया, मगर बाद में एक कच्चे मकान में बदल दिया गया । हम पर पहरा उन्हीं सिपाहियों का रहा जो जहाजपुर से हमारे साथ आये थे । बेचारे निरक्षर देहाती मुसलमान और मीने बड़े सरल और सहृदय थे । अपनी छोटी तनख्वाहों के मारे परेशान थे । उनके हृदय पर हमारी गरीबों की सेवा को सदा आशीर्वाद देते थे । हम पर कोई खास सख्ती न थी । खाने पीने का संतोषजनक प्रबन्ध था । सुबह शाम सिपाही जंगल में हमको घुमा लाते मिलने जुलने और लिखने पढ़ने पर कोई रोक न थी । हर मित्र कई बार दिन दिन भर रह जाते और वहीं खाते पीते

वकील हमारे थे पं० लक्ष्मीनारायण त्रिवेदी । उन्होंने आम तौर पर सेवा संघ की और हमारे और पथिकजी के मामलों में खास तौर पर बड़ी सेवा की । हमारा मुकदमा मुन्शी मूरेलालजी हिरण एम. ए. एल-एल. बी. सिटी मजिस्ट्रेट की अदालत में पेश हुआ । ये शिष्ट और सुलझे हुए आदमी थे । हमारे साथ उनका अंत तक आदरपूर्ण व्यवहार रहा । मेवाड़

में वह पहला बाक़ायदा राजनैतिक मुक़द्दमा था। हम पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया। अदालत महलोंकी चहार दीवारी के भीतर थी। वहाँ कोई नंगे सिर या टोपी पहन कर नहीं जा सकता था। हमने इस पाबंदी को नहीं माना। इस्तग़ासे के ज्यादातर गवाह सिपाही या दूसरे सरकारी मुलज़िम थे। हम जैसे मुल्जिमों के ख़िलाफ़ गवाही देने का उन्हें पहले काम नहीं पड़ा था। अधिकांश सरकारी वकील के सवालों पर ही बहक गये। एक सवार ने मजेदार क़िस्सा घड़ लिया। उसने बयान दिया कि जब हम चौधरीजी को पकड़ने गये तो इन्होंने जमीन से एक चुटकी मिट्टी उठाई और कुछ 'मंतर' पढ़ कर फूंक मारी और कहा, 'महाराणा का नाश हो'। इस पर अदालत में खूब हँसी हुई और मजिस्ट्रेट ने कहा कि इस्तग़ासे की ऐसी ही गवाहियाँ हुईं तो उसके करम फूट गये। किसानों में से हमारे ख़िलाफ़ एक दो के सिवाय कोई न मिले। उन्हें पुलिस मार पीट कर लाई थी। हमारे सामने आते ही वे हमारे हो गये और सच्ची सच्ची कह गये। क़रीब ७ महीने मुक़दमा चला। हमने लम्बे २ लिखित बयान दिये। उनमें रियासत की निरंकुश शासन प्रणाली, प्रजा की पामाली और सेवा संघ की नीति का लम्बा वर्णन था। ओ० हिरण को भय हुआ कि इन बयानों के प्रकाशित होने से राज्य की प्रतिष्ठा को हानि पहुंचेगी। वे महाराजकुमार साहब के पास पहुंचे। दूसरे दिन मुझे चीफ़ मिनिस्टर पं० धर्मनारायणजी के बंगले पर ले जाया गया। वहाँ

चटर्जी बाबू भी मौजूद थे। राजस्थान सेवा संघ और मेवाड़ सरकार के बीच किसी स्थायी समझौते की चर्चा शुरू हुई। तीन दिन बहस के बाद सहयोग की योजना का ढाँचा तैयार हुआ। परन्तु चौथे दिन अचानक बातचीत बंद कर दी गई। बाद में मालूम हुआ कि राजपूताना एजेन्सी को इस प्रकार का सहयोग पसंद न था।

उन दिनों मेवाड़ में पहले दर्जे के मजिस्ट्रेटों को भी राजद्रोह के मामले के फैसले करने का अखितयार न था। उन्हें अपनी राय के साथ कागजात महाद्राज्य सभा में भेजने पड़ते थे। यह रियासत की हाई कोर्ट थी। श्री० हिरण ने हम तीनों को निर्दोष ठहराया। सभा ने हमें मुक्त कर दिया। उस दिन एक दिलचस्प घटना हुई। जो सिपाही हमारी निगरानी के लिये रखे गये थे उन्होंने महकमा खास को इस आशय की दरख्वास्त दी कि "हमें नेताओं की अर्दली में रक्खा गया था, अब सरकार ने उन्हें छुट्टी दे दी है तो हमें भी घर जाने की इजाजत दी जाय।"

ब्रिटिश सरकार को बिजौलिया, सिरोही और बूंदी वगैरह के आंदोलन से पता लग गया था कि सेवा संघ का देहाती जनता पर कितना असर है। रियासतें और जागीरें भी उससे डरी हुई थीं। इसलिये संघ के सारे संगठन की भीतरी रचना जानकर उसे तहस नहस करने का मिलजुल कर विचार होना स्वाभाविक था। जिस अर्से में हम पर उदयपुर में मुक़दमा चल

रहा था उसी में अजमेर में संघ के मुख्य दफ़्तर की तलाशी हुई। क़रीब दो सौ कान्सटेबल लेकर दस सुपरिन्टेण्डेण्ट पुलिस आये थे। सुबह से तीसरे पहर तक छानबीन होती रही। कोई तीन गाड़ी काग़ज़ात पुलिस उठा कर ले गई। उनकी कोई सूची नहीं बनाई गई। अजमेर के राजनैतिक इतिहास में यह सबसे बड़ा छापा था। लगभग २२ महीने की जांच पड़ताल के बाद काग़ज़ात लौटाये गये। भगवान जाने कितने काग़ज़ ग़ायब हुए। इस छान बीन में राजपूताने की सभी और मध्य भारत की कई रियासतों के पुलिस अफ़सरों ने भाग लिया था। उस समय न अख़बार व्यवसायी बने थे, न संवाददाताओं को पुरस्कार की चाट लगी थी। 'नवीन राजस्थान' जिस सेवा भाव से निकलता था उस के संवाददाताओं में भी वही भावना थी। वे चुन चुन कर जनता के कष्टों के समाचार भेजते थे और ऐसा करने में काफ़ी जोखम उठाते थे। वे एक तरह से संघ के स्वेच्छा—सेवक थे। पुलिस वालों ने इन सब लोगों की सूचियां बनालीं। लेकिन वे संघ के किसी सदस्य या कार्यकर्त्ता पर मुक़दमा न चला सके।

शेखावटी में शिक्षा प्रचार आदि रचनात्मक कार्य तो पहले से ही हो रहा था। सामूहिक सेवाकार्यों की शुरुआत भी सेवा-समितियों ने कर दी थी। इनकी स्थापना का श्रेय मंडावा के स्व० सेठ देवीबख्श जी सराफ़ को था। सन् १९२१ में शेखा-वाटी की सेवासमितियों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ।

उसके सभापति मेरे गुरू मास्टर कालीचरण जी शर्मा हुए। इस सम्मेलन को राज्य ने खतरनाक शुरूआत समझा और श्री० गुलाबराय नेमाणी और मास्टर प्यारेलाल जी गुप्ता को गिरफ्तार कर लिया। उन्हें खेतड़ी तक पैदल ले जाया गया। इस पर शेखावाटी और कलकत्ता, बम्बई में एक तूफान मच गया और दोनों देश भक्त छोड़ दिये गये।

शेखावाटी में राजनैतिक जीवन का सूत्रपात यहीं से हुआ। इस घटना के बाद ही सेठ जमनालालजी बजाज ने प्रचार कार्य के लिए शेखावाटी का दौरा किया। साथ में अजमेर के दो तीन प्रमुख कार्यकर्ता भी थे। इस यात्रा से अच्छी जागृति हुई। शायद इसी अवसर पर सेठ आनन्दीलाल पोद्दार ने 'तिलक स्वराज्य फण्ड' की कमी को पूरा करने के लिए एक

में जो आम हड़ताल हुई अजमेर ने उसकी पूर्णता का नमूना पेश किया। मजाल क्या कि एक भी दुकान खुल जाय और एक भी तांगा या सवारी मिल जाय। पुलिस पर राष्ट्रीय संगठन का इतना दबदबा था कि गिरफ़्तारियाँ भी नेताओं की मदद से होती थीं, वरना वारंट लौट जाते। ऐसे मौक़े पर कमिश्नर साहब मौलाना मुइज़्ज़ुद्दीन को खत लिखते तब कहीं राजनैतिक मुलज़िम गिरफ़्तार होते। कहते हैं कि एक बार रमज़ान के महीने भर वारंटों की तामील मुल्तवी रही और रोज़े पूरे होने पर नेता लोग जेल गये। मुझे याद है, उस समय मँहगाई के कारण लूट पाट का अंदेशा बहुत बढ़ गया था और लोगों को पुलिस की ताक़त पर भरोसा नहीं रहा था। आखिर काँग्रेस, खिलाफ़त और सेवासंघ के स्वयंसेवकों का पहरा लगाया गया। तब जनता को इतमीनान हुआ। इस बढ़ते हुए असर को देख कर कट्टर राजभक्त सेठ उम्मेदमलजी लोढा ने भी चुपचाप काँग्रेस को २०००) भेंट कर दिये।

बारदोली में काँग्रेस की वर्किंग कमेटी ने चौरीचौरा में जनता द्वारा पुलिस थाना जला दिये जाने और कुछ कान्स्टेबलों के मार दिये जाने के कारण असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया था। महात्मा गाँधी पर गिरफ़्तारी का वारंट निकल चुका था। उस समय वे अजमेर में ही मौजूद थे। मगर यहाँ की सरकार ने उन्हें गिरफ़्तार करने की जिम्मेदारी लेने का साहस नहीं किया। वे गुजरात की सीमा में पहुँच कर पकड़े

गये। असहयोग के स्थगित होने पर काँग्रेस में दो दल हो गये। पं० मोतीलालजी नेहरू और देशबंधु चितरंजन दास कौंसिल प्रवेश के पक्ष में थे और सर्व श्री० राजगोपालाचार्य, राजेन्द्र बाबू व जमनालालजी और अलीबंधु आदि रचनात्मक कार्यक्रम के हिमायती थे। राजपूताना अपरिवर्तनवादी रहा।

बेगूँ के किसानों को भी लगभग वे ही तकलीफें थीं जो बिजौलिया वालों को थीं। राज्य ने किसानों की माँग को ध्यान में रख कर कुछ रियायतें दीं और लगान का बन्दोबस्त कराने के लिए पैमायश का महकमा खोला। कोई वजह नहीं थी कि बेगूँ वालों को वे ही रियायतें न मिलतीं जो बिजौलिया वालों को दी गई थीं। मगर रियासत ने ऐसा न करके मि० ट्रेन्च नामक एक आई. सी. एस. अफसर को जो पैमायश हाकिम थे लश्कर के साथ बेगूँ भेज दिया। इन्होंने समझाने बुझाने के बजाय असंतोषजनक शर्तें जबरदस्ती किसानों के सिर मढ़ना चाहा। सत्याग्रही राजी न हुए। आखिर साहब बहादुर के हुक्म से निहत्थे ग्रामीणों पर गोलियाँ चलाई गईं। पथिकजी ने अपने मुक़द्मे के बयान में यह आरोप किया था कि उस समय स्त्रियों को गोलियों के सामने अचल देख कर उनके नाड़े तक कटवाये गये थे। दूसरे जुल्म जो ऐसे अवसरों पर हुआ करते हैं वे तो सब किये ही गये। श्री घनश्याम शर्मा नामक बेगूँ के नौजवान कार्यकर्त्ता को इतनी बुरी तरह पीटा गया था कि जब वे महीने

भर बाद मेरे पास अजमेर आए तो इनके शरीर पर मार के निशान साफ़ नज़र आते थे। बेगूँ के आन्दोलन में श्री मगन-लाल चोरड़िया भी शुरू से किसानों के साथ थे। इस अवसर पर उन्हें भी ख़ूब तंग किया गया। इस क्रूर दमनकांड के फलस्वरूप किसान सम्प्रति दब गये। उधर के कार्यकर्त्ता भी उदासीन होकर घर बैठ गये। इसलिये पथिकजी को सन् १९२३ के वसंत में खुद वहां जाना पड़ा। साथ में ब्रह्मचारी हरिजी गये। दोनों छिप कर रहने लगे। पथिकजी एक धाकड़ के घर में बैठ कर गुप्त रूप से किसानों का मार्ग दर्शन करते रहे। अंत में भीषण मारपीट के मारे धाकड़ ने भेद खोल दिया और पथिकजी पकड़े गये। अधिकारियों ने वचन भंग करके उनके साथ दुर्व्यवहार किया और उन्हें चित्तौड़ भेज दिया। उस समय लाला अमृतलाल नामक एक पुराने ढंग के कायस्थ बेगूँ के मुन्सरिम थे। उन्होंने अपनी सारी चालबाज़ी और अमानुषिकता खर्च करके पथिकजी और उनकी शक्ति को कुचलने और किसानों के नवजीवन को दफ़नाने के लिये एड़ी से चोटी तक ज़ोर लगा दिया। वे जितने बेउसूले आदमी थे उतने ही ग़ज़ब के प्रचारक थे। दुर्भाग्यवश अजमेर के सार्वजनिक जीवन की प्रतिस्पर्धाओं से भी उन्हें सहायता मिली। उन्होंने कई पर्चे छपवाये और संघ और उसके कार्यकर्त्ताओं को बदनाम करने की कोशिश की। मगर उन्होंने बुरी तरह मुंह की खाई। संघ ने जिस जनता की सेवा की थी वह तो उसके प्रति वफ़ादार रही ही,

अखबारों ने भी लालाजी को ख़ूब आड़े हाथों लिया। पथिकजी को जेल की दीवारों में बन्द करके उन पर पीठ पीछे वार करने की गर्हित चेष्टा की लोक मत ने तीव्र निन्दा की। मगर एक अभियुक्त पर यह सब मामले होते देख कर भी विशेष अदालत ने उन्हें अपने लिए अपमानजनक नहीं समझा और न अभियुक्त की रक्षा में एक शब्द कहा।

लालाजी ने पथिकजी को सजा दिलवाने के लिये असाधारण तैयारियां की। चित्तौड़ में विशेष अदालत बैठी। उसमें पं० त्रिभुवननाथ शिवपुरी, श्री रतीलाल अंताणी और बाबू डालचन्दजी अग्रवाल जज थे। तीनों ही अनुभवी, सज्जन और न्याय प्रेमी थे। अवश्य ही मेवाड़ सरकार ने अपने यहां के सबसे अच्छे न्यायाधीश मुक़र्रर किये। इसका बहुत कुछ श्रेय स्व० मणिलाल भाई कोठारी को था। उन्होंने उदयपुर जाकर दोनों दीवानों को काफ़ी समझा बुझा कर पथिकजी को सुविधायें दिलवाईं। मगर बाहर का वकील करने की इजाजत वे भी न दिलवा सके। चित्तौड़ में नगर के बाहर पथिकजी, उनके वकील और न्यायाधीशों का डेरा लगा। वहीं कार्रवाई शुरू हुई। अभियुक्त के साथ सम्पर्क रखने में उनके मित्रों को कोई ख़ास रुकावट नहीं थी। उनके मुक़ाबिले में मेवाड़ के सरकारी पैरोकार बेचारे बौद्धिक बौने थे। लगभग साढ़े तीन वर्ष तक मुक़द्दमा चला। बीच में विशेष अदालत उदयपुर चली गई और पथिकजी भी 'ख़ास ओदी' नामक महाराणा के शिकारी स्थान

में रख दिये गये। पथिकजी के खिलाफ़ सच्चे गवाह और सवूत इस्तग़ासे को नहीं मिले। कई क्लर्कों की भक्ति के कारण सरकारी कागज़ात में ही ऐसे प्रमाण मिल गये जिनसे पथिकजी की निर्दोषिता साबित होगई। किसान तो उन्हें देवता की तरह पूजते थे। कोई उनके खिलाफ़ शहादत देने को राजी न हुआ। लाला अमृतलाल जी बुरी तरह मार कर दो एक को लाये, मगर अदालत में आते ही वे अभियुक्त के पक्ष में गवाही दे गये। पथिकजी के मुक़द्दमे की गूँज देश के हर कौने में पहुंचती थी क्योंकि उसकी कार्रवाई भारत के प्रायः सभी पत्रों में नियमित रूप से प्रकाशित होती थी। अन्त में विशेष अदालत ने मुल्ज़िम को बरी किया। लेकिन मेवाड़ सरकार के महक़्मा खास ने उन्हें अपने विशेषाधिकार से धांधली करके लम्बी क़ैद की सजा देदी। निरंकुश शासन प्रणाली में न्याय विभाग प्रबन्ध विभाग के सामने कितना पंगु होता है, इसका प्रमाण इससे अच्छा और क्या मिल सकता है? आखिर सन् १९२८ में ५ साल के कारावास के बाद पथिकजी छोड़े गये।

इस बीच अजमेर में कुछ घटनायें घट चुकी थीं। सबसे गम्भीर तो यह थी कि सन् १९२३ में भीषण हिन्दू मुस्लिम दंगा हुआ। सहारनपुर के बाद शायद यह देश में दूसरा साम्प्रदायिक दंगा था। इसमें पुलिस के हिन्दू कर्मचारियों ने हिन्दुओं को और मुसलमान नौकरों ने मुसलमानों को खूब भड़काया। दोनों तरफ़ से सामाजिक बहिष्कार और घृणा व द्वेष का दिल खोल-

कर प्रचार किया गया। कई हिन्दू मारे गये और बहुत से घायल हुए। अंग्रेजी सेना ने ख्वाजा साहब की दरगाह पर गोली चलाई। श्री० चांदकरणजी शारदा को घरवालों के दबाव से अजमेर छोड़ कर बाहर चले जाना पड़ा। पं० अर्जुनलालजी सेठी ने अपनी राष्ट्रीयता की मंहगी कीमत चुकाई। मेल और एकता का प्रचार करते हुए वे मुसलमान दंगाइयों के हाथों घायल हुए। दुर्दैववश हिन्दू जनता उसी समय से उनसे नाराज़ हो गई। मुसलमानों के राष्ट्रीय नेता मौलाना मुईनुद्दीन और मिर्जा अब्दुल क़ादिरबेग आदि सरकार और हिन्दुओं की नज़र में फ़साद के बानी मुबानी समझे गये। उन पर मुक़दमे भी चलाये गये। इस अवसर पर ख़तरे और कष्ट में पड़े हुए हिन्दुओं की पं० जियालालजी और उनके साथियों ने अपनी जानजोखम में डालकर भी जो सहायता की उसे अब भी लोग कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं।

दूसरी घटना थी मेवाड़ राज्य द्वारा 'नवीन राजस्थान' का प्रवेश-निषेध। उसका नाम पलट कर 'तरुण राजस्थान' रख दिया गया। उसकी भी रियासत में मनाई हो गई। जयपुर और बूंदी राज्यों ने भी अपने यहाँ उसका दाखिला बंद कर दिया।

तीसरी घटना हुई 'तरुण राजस्थान' पर राजा महेन्द्रप्रताप की एक चिट्ठी और अग्रलेख छापने के आधार पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाना। मैं और शोभालालजी अभियुक्त ठहराये

गये। इससे पहले सेठ जमनालालजी के भेजे हुए सर्व श्री क्षेमानन्द राहत और नृसिंहदासजी अग्रवाल राजपूताने में राष्ट्रीय काम करने के लिए आ चुके थे। उन्होंने सब में ही डेरा लगाया। राहतजी की लम्बी दाढ़ी, पैनी बुद्धि, सरस बातचीत, भावुक तबियत और सफ़ेद दूधिया पोशाक थी। वे अच्छे लेखक, कवि और वक्ता थे। बाबाजी (नृसिंहदासजी का बाद में यही नाम पड़ गया था) बहुत कम पढ़े लिखे थे। राजस्थानी थे और कुशल व्यापारी रह चुके थे। उन्होंने त्याग भी काफ़ी किया था और भेप भी वैसा ही रखते थे। लेकिन ये दोनों आते ही कांग्रेस के चुनाव के झगड़ों में उलझ गये और असफल रहे। बाद में खादी मंडल का प्रान्तीय दफ़्तर लेकर वे ब्यावर चले गये और साल छः महीने वहीं रहे। मैं और शोभालालजी जेल भेज दिये गये। हमारा मुक़दमा हाबकिन्सन नामक अँग्रेज़ असिस्टेन्ट कमिश्नर की अदालत में पेश हुआ। लेकिन इन हज़रत ने न हमारी ज़मानत मंज़ूर की और न हमें सफ़ाई का मौक़ा ही दिया। हमें सीधा सेशन सुपुर्द कर दिया। इनकी धांधली इतनी स्पष्ट थी कि सेशन जज ने हमारा मुक़दमा दूसरे मजिस्ट्रेट की अदालत में भेज दिया और सारी कार्यवाही दुबारा करवाई। जेल में हमारी मुलाक़ात अजमेर-मेरवाड़ा के मशहूर डाकू ठाकुर मोड़सिंह से हुई। इनमें हिन्दुत्व का गौरव और अंग्रेज़ों के प्रति घृणा असाधारण थी। ये भी किसी समय खरवा के राव साहब और पथिकजी के साथ रह चुके थे। मुक़दमे में मैं बरी हो गया

और शोभालालजी को एक साल की सख्त सज़ा हुई। स्व० बाबू श्रीलालजी अग्रवाल का इसी प्रसंग पर परिचय हुआ। अपरिचित होकर भी वे ख़ुशी से हमारे वकील बने और उत्साह पूर्वक मुफ़्त पैरवी की। वे जब तक जिये मेरे साथ उनके कौटुम्बिक सम्बन्ध रहे। वास्तव में उनकी वृत्ति सभी के साथ उपकार करने की थी।

पीछे से संघ में केवल अंजना देवी और रामसिंह नामक बालक रह गया। यह मेवाड़ के एक ग़रीब राजपूत घर का लड़का था। शुरू से होनहार था। लिखने पढ़ने की चाट थी। अजमेर चला आया और संघ में हमारे पास रहने लगा। थोड़े ही अर्से में उसने अच्छी प्रगति करली। बाद में तो मैंने उसे काशी विद्यापीठ पढ़ने भेज दिया था और वह एक उपयोगी कार्यकर्ता बन गया। उसमें सर्वांगीण शक्तिओं का काफ़ी जमाव था।

हमारे इसी मुक़दमे के दौरान में एक दिन हवालात में दो अनजान व्यक्ति हमारे लिए खाना लेकर आये। ये थे पं० लादूराम जी जोशी और उनकी पत्नी श्रीमती रमादेवी। जोशी जी नया नया विधवा विवाह करके आये थे। शेखावाटी के पुरातन प्रेमी प्रदेश में इस क़िस्म की यह पहली शादी थी। इससे वहां के वातावरण में बड़ा क्षोभ पैदा हुआ। पंडित जी का सेवा संघ से सम्बन्ध था। वे उसके कार्यकर्ता और आजीवन सदस्य थे। उसकी भी एक कहानी है। जयपुर राज्य के

बिसाऊ ठिकाने के ठाकुर के पाले हुए शिकार के सुअरों, बेगार और लगान की ज्यादती और लागबाग का किसानों को बड़ा कष्ट था। वहां के एक धनिक श्री जगराजजी झूंझुनूवाला सार्वजनिक भावना रखते थे। किसानों के साथ उनकी सहानुभूति थी। ठाकुर ने उन्हें भी अपमानित किया था। उनकी सहायता से संघ ने बिसाऊ में आन्दोलन छेड़ा। उसमें लादूरामजी भी काम कर चुके थे। अजमेर आने पर वे संघ परिवार में रम गये। संघ के लिए यह परीक्षा काल था। उधर पथिकजी गिरफ़्तारी में थे, इधर हम क़ैद में थे। 'तरुण राजस्थान' और संघ के कार्य संचालन का दायित्व था। सौभाग्य से राहतजी व बाबाजी की सलाह और मणिलाल भाई की मदद मौजूद थी। फिर भी आर्थिक संकट गम्भीर था। आखिर पं० लादूराम जी को कानपुर भेजा गया। स्व० गणेशशंकरजी विद्यार्थी पथिक जी के मित्र, देशी राज्यों की प्रजा के हिमायती व संघ के मददगार थे। उन्होंने एक अच्छी सी रक़म इकट्ठी करवाकर जोशी जी को लौटाया। अपने लम्बे सार्वजनिक जीवन में मैंने जोशीजी के जैसे शुद्ध हृदय, सेवा परायण, साहसी, कर्मठ और नम्र सेवक बहुत कम देखे हैं।

पथिकजी की ग़ैरमौजूदगी में कुछ व्यक्तियों से परिचय का और मौक़ा मिला। एक तो उज्जैन के स्वामी रामानन्द थे जो मालवे में हरिजन उत्थान का काम करते थे। वे कई मास तक संघ में रहे। दूसरे थे बूंदी के भूतपूर्व सेनापति श्री नित्यानन्दजी

नागर। रियासती कुचक्रों में फंस कर वे निर्वासित कर दिये गये थे। संघ से उनका पहिले से ही परिचय था। उनके साथ उनके पुत्र श्री ऋषिदत्त मेहता और पुत्र वधू श्रीमती सत्यभामा देवी भी थीं। नागरजी संघ की सलाह से पोलीटिकल. विभाग के साथ अपने मामले में पत्र व्यवहार करते और अखबारों में प्रकाशन कर—वाते थे। ऋषिदत्तजी सपादन कला का अभ्यास करने लगे। आगे चल कर इस परिवार ने प्रांत के राष्ट्रीय संग्राम और सार्वजनिक जीवन में काफ़ी भाग लिया।

किन्तु सबसे अधिक उल्लेखनीय व्यक्ति थे स्वा० कुमारानन्दजी। ये एक प्रतिष्ठित बंगाली परिवार में जन्म लेकर क्रांतिकारी पथ के पथिक बन गये थे और सन् १९२१ में ब्यावर को कार्यक्षेत्र बनाने से पहिले कई जेलों की यातनाएं भुगत कर देश—भक्ति की क़ीमत अदा कर चुके थे। असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में कई वर्ष कारावास पूरा कर के वे अजमेर लौटे तो सेवासंघ में हम लोगों के अतिथि रहे। इस थोड़े समय में ही इन्होंने संघ परिवार के बाल वृद्ध सभी को अपने सरल, स्नेही और विनोदी स्वभाव से प्रभावित कर लिया। राजस्थान में भी इस त्यागी सेवक ने हर राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी कुर्बानी की परम्परा बराबर क़ायम रखी। जब यह भावुक सन्यासी झूमझूम कर देश—प्रेम के बंगला गीत सुनाता है तो श्रोता भी बड़ी स्फूर्ति का अनुभव करते हैं।

श्री० शंकरलालजी बर्मा भी 'तरुण राजस्थान' में हमारे साथ

काम करने आ गये थे और सन् १९२८ तक बराबर साथ रहे। कौटुम्बिक भावना, स्पष्टवादिता और व्यक्तिगत सेवा की वृत्ति इनके खास गुण हैं। घटनाओं को इतना सिलसिलेवार याद रखते हैं कि हम लोग उन्हें विनोद में 'क्रानिकल' (इतिहास) कहा करते हैं। ये राष्ट्रीय हलक़ों में 'बुज़ुर्ग' या 'भगवन' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सन् १९२५ में सीकर के जाटों में असन्तोष पैदा हुआ। यह राजस्थान की प्रमुख कृषक जाति है और धाकड़ों की तरह साहसी और चतुर भी है। असन्तोष का कारण तो वही लाग बाग, बेगार और खास तौर पर लगान की ज़्यादती थी। मेरे एक जाट मित्र श्री मुकुन्दराम चौधरी की प्रेरणा से किसानों ने मुझे जयपुर बुलाया। सीकर ठिकाने की तरफ़ से मेरे पिताजी श्री० मुरलीधरजी तँवरावाटी निज़ामत में वकील थे। लेकिन इस नाज़ुक सम्बन्ध की न मैंने परवाह की और न पिताजी ने कभी इसे मेरे सेवा कार्य में बाधक होने दिया। उन दिनों सीकर ठिकाने का प्रबन्ध करने के लिए खां साहब अब्दो॰ लुर्रहमान नामक एक पेंशनर मुसलमान भेजे गए थे। वे अख़बारों से डरते थे। मेरी दिलचस्पी सुन कर उन्होंने मुझ से मिलने की इच्छा प्रगट की। उनके प्रस्ताव पर मैं किसानों को लेकर सीकर पहुँचा। लेकिन वहाँ उन्होंने एक महत्वपूर्ण मुद्दे पर वचन भंग कर दिया और किसानों को संतुष्ट करने के बजाय उनमें फूट फैलाने और उन पर अनुचित दबाव डालने लगे। समझौते

की बात चीत टूट गई। इनके खिलाफ़ आन्दोलन हुआ। किसान सम्मति दवा दिये गये और खां साहब आबू पर्वत पर दिल की धड़कन बंद होने से चल बसे। मुझे जयपुर से और हरिजी को सीकर से निर्वासित कर दिया गया और पं० लादूरामजी की मौरूसी ज़मीन ज़ब्त करली गई जो तीन चार वर्ष की अदालती लड़ाई के बाद लौटाई गई। इसी समय जयपुर राज्य से सेठ जमनालालजी के निर्वासन की आज्ञा भी निकाल दी गई। यह आज्ञा इतनी निराधार और स्वेच्छाचार-पूर्ण थी कि राज्य को इसे जल्दी ही रद्द करना पड़ा। मेरे ख़िलाफ़ जो हुक्म दिया गया उसका आधार सिर्फ मेरा सीकर के किसानों से सम्बन्ध होना था।

सीकर के सीनियर अफ़सर भी ओछे हथियारों पर उतर आये। उन्होंने मेरे पिताजी को वकालात के पद से अलहदा कर दिया। यह पुश्तैनी ओहदा था जिसे वफ़ादारी और योग्यता के साथ निभाया गया था। पिताजी का मेरे राजनैतिक कार्यों से कोई सम्बन्ध न था। अलबत्ता वे उन कामों में दखल भी नहीं देते थे। अपनी इस तटस्थता के कारण वे पहले भी कष्ट उठा चुके थे। बात यह हुई थी कि नीमका थाना जयपुर राज्य की तंवरावाटी निज़ामत का केन्द्र है। वहां एक नायब नाज़िम और एक थानेदार ने एक पंजाबी ठेकेदार से रिश्वत लेकर उसके क़र्ज़दार एक हरिजन को हवालात में इतना पिटवाया था कि उसके प्राण पखेरू उड़ गये। इस पर मैंने 'नवीन

राजस्थान' में प्रकाश डाला और रियासत ने दोनों कर्मचारियों से जवाब तलब किया था। उन्होंने पिताजी पर दबाव डाला कि मुझसे उन समाचारों का खंडन करवाएँ। पिताजी ने साफ़ इंकार कर दिया। तब उन्हें धमकियाँ दी गईं। फिर भी पिताजी ने मुझसे कुछ न कहा। आखिर चोरों से मिलकर पिताजी के यहाँ चोरी कराई गई और लगभग दस हज़ार रुपये का नक़द और ज़ेवर उड़वा दिया गया। पिताजी के लिए यह ऐसी भारी आर्थिक चोट थी जिसका घाव ज़िन्दगी भर नहीं भरा, लेकिन वे मुझसे शिकायत का एक शब्द भी ज़बान पर नहीं लाये। इसी तरह वकालत छूट जाने पर भी उन्होंने मुझे कोई दोष नहीं दिया। वे ईश्वर पर अटल श्रद्धा रखते थे। अंत मे अख़बारों में सीकर के इस कृत्य की इतनी तीव्र निन्दा हुई कि पिताजी शीघ्र बहाल कर दिये गये।

लेकिन मेरे ख़िलाफ़ जयपुर की निर्वासिन आज्ञा तो मौजूद ही थी। उस वक़्त कौंसिल के प्रेसीडेण्ट और सर्वेसर्वा रेनाल्ड्स साहब एक निरंकुश तबियत के आदमी थे। मैंने उन्हें पत्र लिख कर बताया कि मैंने जयपुर राज्य भर में तो कुछ किया नहीं जिससे शांति भंग हुई या होने का ख़तरा हो, सीकर में भी कोई ग़ैर कानूनी या भड़काने वाली कार्रवाई नहीं की। फिर भी राज्य की दृष्टि से मैंने कोई आपत्तिजनक काम किया है तो वह मुझ पर मुक़दमा चलाये। मैं अभियुक्त बन कर हाज़िर हो जाऊंगा। इस पत्र का कोई जवाब नहीं मिला। मैंने दूसरा

पत्र लिखा कि मुकदमा न चलाना हो तो मुझे मुलाक़ात का मौक़ा दिया जाय ताकि मैं अपनी सफ़ाई दे सकूं। इस खत का भी उत्तर नहीं आया। तब मैंने इस मनमाने व्यवहार के विरोध में आज्ञा भंग करना अपना धर्म समझा और एक निश्चित तारीख को जयपुर पहुंचने की रेनाल्ड साहब को सूचना भेज दी। वहां पहुंचने पर मुझे गिरफ़्तार कर लिया गया। यह काम करने आये पं० शिव बिहारी तिवाड़ी शहर कोतवाल जो मेरा बड़े भाई की तरह आदर करते थे। बेचारे शरमिंदा तो काफ़ी थे, मगर मजबूर थे। मुझे एक दिन तो उन्होंने अपने बंगले में रक्खा। दूसरे दिन सुबह पुलिस के इंस्पेक्टर जनरल मि० केवेन्ट्री आये। उनके खिलाफ़ और कुछ भी कहा जाता हो, पर शिष्टता की उनमें कमी नहीं थी। उनके सहायक मेरे पूर्व परिचित व्यास मगनराजजी थे। पुलिस में और भी कुछ अफ़सर मेरे स्कूल, कालेज या खेल के साथी थे। सभी को मुझे मुल्जिम देख कर अपने पर लज्जा हुई। कहने लगे "भाई साहब, आप लोग जन्म सफल कर रहे हैं। हमतो पापी पेटके फंदेमें फंसे हैं।" ग्यारह बजे मुझे सिटी मजिस्ट्रेट के सामने पेश कर दिया गया। सत्याग्रही होकर मैंने जमानत देना पसन्द नहीं किया। अधिकांश वकीलों में कोई दम नहीं था। मजिस्ट्रेट ने भी डराने की कोशिश की थी। मैंने मित्रों तक को वहां पहुंचने की सूचना नहीं दी थी। फिर भी कई लोग मुक़दमे के समय अदालत में आते और मेरे लिये फलाहार आदि लाते। पं० चिरंजीवलाल

मिश्र वकील और शंभूनाथजी मुख्त्यार ने मुझे क़ानूनी सहायता देने के लिये अपनी सेवाएं पेश कीं। मैंने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार कर लीं।

उन दिनों हवालाती क़ैदी घाट दर्वाज़े की पुरानी जेल पर रक्खे जाते थे। यह जगह नीची, तंग और गंदी थी। गर्मी के मारे बड़ी परेशानी रही। अजमेर के हमारे पूर्व परिचित जेलर श्री० राजनारायण सुपरडेंट थे। वे मीठा बोल कर चले गये। दूसरे दिन मुझे डाक्टर के सामने पेश किया गया। वह एक मुसलमान युवक थे जिन्होंने मेरा रेनाल्ड के नाम का पत्र अखबारों में पढ़ लिया था। ज्योंही बातों बातों में उन्हें पता चला कि उस पत्र का लेखक ही उनके सामने क़ैदी के रूप में खड़ा है तो उनका व्यवहार एक दम बदल गया। उन्होंने मुझे आदरपूर्वक बिठाया और फ़ौरन सेंट्रल जेल भिजवा दिया। वहाँ मेरा सारा जेल जीवन अस्पतालमें ही बीता। श्री० कल्याण बख्श पुरोहित मुख्य डाक्टर थे। ये मेरे बचपन के सहपाठी और मित्र थे। इन दोनों युवकों के साथ दिन भर आनन्द में व्यतीत होता था। ज्यों ही मैं पहुंचा जेल के दूसरे क़ैदी बीमारी का या दवा लेने का बहाना करके मुझे देखने अस्पताल में आते रहे। उन के लिए किसी का अंग्रेज़ों को चुनौती देकर और दूसरों की सेवा के भाव से जेल में आना नई बात थी। उन का आदर और प्रेम अंत तक क़ायम रहा। एक दिन क्वेन्ट्री साहब आये। वे ही जेल के इन्सपेक्टर जनरल भी थे। सुपरि-

न्टेन्डेन्ट की इच्छा न होते हुए भी वे इच्छानुसार मुझे 'क्रॉनि॰कल' वगैरा 'खिलाफ़ती' अखबार मंगाने की अनुमति दे गये। साथ ही मेरे खाने पीने, रहने सहने के बारे में राय देने के लिये रियासत के चीफ़ मेडिकल अफ़सर डा॰ दलजंगसिंहजी को लिखवा गये। डाक्टर आये और मेरी परीक्षा लेकर राय दे गये कि मुझे बाहर सोने दिया जाय और मेरे साथ प्रथम श्रेणी के राजनैतिक क़ैदी के योग्य व्यवहार किया जाय। जेल के क्लर्कों का भी प्रेम हो गया था। मेरे बारे में जो लिखा पढ़ी होती वे मुझसे कह जाते। इस कारावास की मधुर स्मृतियों में श्री॰ कपूरचंदजी पाटणी के व्यवहार और श्री॰ मणिलालजी कोठारी की मुलाक़ात का विशेष स्थान है।

सिटी मजिस्ट्रेट श्री॰ लक्ष्मीनारायण एक कायस्थ ग्रेजुएट थे। पुराने ढंग के सत्तापूजक आदमी थे। उनके पास ऊपर से जो हिदायतें आतीं, उन्हीं को ध्यान में रख कर मेरे मुक़दमे में कार्रवाई करते। सरकारी पैरोकार थे श्री अब्दुलबाक़ी। ये अज॰मेर में ख़िलाफ़त और कांग्रेस में काम कर चुके थे और मेरे जेल के साथी और मित्र थे। मुझे मिश्रजी की सलाह और सहायता प्राप्त थी, लेकिन अपनी क़ानूनी तैयारी और पैरवी प्रायः मैं ख़ुद ही करता था। आज्ञा भंग तो मैंने जरूर किया था और डंके की चोट किया था मगर क़ानून की दृष्टि से जुर्म नहीं बनता था। बात यह है कि ताज़ीरात हिन्द की दफ़ा १८८ में उदूल हुक्मी करने से ही अपराध नहीं होता। इस आज्ञा॰

भंग से या तो शांति भंग या प्राणहानि होनी चाहिए या सरकारी कर्मचारियों के कर्त्तव्यपालन में बाधा पड़नी चाहिए या इन दोनों बातों का खतरा पैदा होना चाहिए। मैंने जयपुर पहुँच कर कोई भाषण नहीं दिया था। न कोई भीड़ भड़का हुआ था और न किसी सरकारी काम में खलल पड़ा था। इस्तग़ासे के गवाहों ने यह सब स्वीकार किया। फिर भी मुझे मजिस्ट्रेट ने ५ मास की कड़ी सजा दे ही डाली। मेरी इच्छा तो न थी लेकिन मित्रों के आग्रह पर रियासत की ऊंची अदालतों का नमूना देख लेने के लिए सेशन जज के यहां अपील की।

मैंने मिश्राजी से क़ानून की किताबें मांग ली और अपील व बहस तैयार करली। सेशन जज लखनऊ के कोई रिटायर्ड मुसलमान थे। उन्होंने बहस सुनी और कह दिया कि इस्तग़ासे का कोई केस नहीं बनता। मगर फ़ैसला जब जेल में मेरे पास पहुंचा तो उसमें मुझे बरी नहीं किया गया। बेचारे जज राज-नैतिक प्रभाव में आ गये थे। अलबत्ता उन्होंने सजा को कड़ी से सादी में बदल दिया और पांच महीने से घटाकर तीन मास कर दी। लेकिन मैं थोड़े दिन बाद महाराना की सालगिरह पर मियाद से पहले ही छोड़ दिया गया।

सन् १९२५ की ग्रीष्म ऋतु में नीमूचाणा कांड हुआ। देशी राज्यों के इतिहास में इस घटना का वही महत्व है जो भारत में जलियांवाला बाग़ का है। नीमूचाणा अलवर रियासत का एक छोटा सा गांव है। यहां के राजपूत किसानों को लगान

सम्बन्धी और दूसरी कई तकलीफें थीं। अलवर के महाराजा जयसिंह जितनी कुशाग्र बुद्धि रखते थे उतनी ही निरंकुश तबीयत वाले थे। प्रजा के शोषण और दमन में सिद्ध हस्त थे। महत्वाकांक्षाओं में बीकानेर के महाराजा सर गंगासिंह के प्रतिस्पर्धी और कुटिल नीति में उनके समकक्ष थे। उन्होंने अपने आतंक से प्रजा को भेड़ से भी अधिक दब्बू बना रक्खा था। नीमूचाणा वालों में कुछ जीवन था। उसको कुचलने के लिए मशीनगन सहित सेना की बड़ी सी टुकड़ी भेज दी गई। उसने सैकड़ों आदमियों को भून दिया, प्रजा की सम्पत्ति आग लगा कर जला दी और वे सब अमानुषिक लीलाएं कीं जो ऐसे अवसरों पर मानव वि[illegible] स्वच्छंद होकर किया करता है। इस मुहिम के नायक श्री० गोपालदास नामक एक पंजाबी थे और बृटिश सरकार की सम्मति इस सुकृत्य में महाराजा को मिल ही गई थी। इस घटना को दबा देने के लिए सभी उपाय किये गये मगर सत्य कैसे छिप सकता है? इधर पीड़ितों में से कुछ सेवा संघ में आये, उधर 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के एक मन—चले पत्रकार ने जासूसी ढंग से महाराजा की कमजोरियों में घुस कर अधिकार पूर्ण सामग्री इकट्ठी करली और भंडाफोड़ कर दिया। राजा दुर्जनसिंह जावली अलवर के प्रमुख जागीरदार थे। प्रजा की दृष्टि से शासक तो बहुत अच्छे न थे, मगर मलनान्दी, राजपूतों के हिमायती और महाराज से असन्तुष्ट थे। उन्होंने भी नीमूचाणा हत्याकाण्ड

के खिलाफ़ आवाज़ उठाने की प्रेरणा की। रियासती प्रजा के अनन्य मित्र और सहायक मणिलाल भाई कोठारी ने कई चक्कर काटे और बहुत सी बातों का पता लगाया। संघ के भेजे हुए सर्व श्री० कन्हैयालाल जी कलयंत्री, लादूरामजी जोशी और ब्रह्मचारी हरिजी भेष बदल कर नीमूचाणा पहुँचे और बहुमूल्य तफ़सील जुटा कर लाये। अंत में एक जांच कमेटी बनी जिसके प्रमुख कोठारी जी और मैं मंत्री था। कमेटी की रिपोर्ट भी तैयार हुई परन्तु दुर्भाग्यवश मणिलाल भाई के पास ऐसी गुम हुई कि फिर प्रकाशित ही नहीं हुई। फिर भी नीमूचाणा की घटना ने निरंकुश राज्य व्यवस्था के खिलाफ़ देश भर में तीव्र रोष और स्थायी घृणा पैदा करदी। शहीदों का खून बेकार नहीं गया। महात्मा गांधी जी ने अपनी रियासतों सम्बन्धी तटस्थ वृत्ति के होते हुए भी इस दोहरे स्वेच्छाचार की कड़ी निन्दा की। कानपुर कांग्रेस के समय देशी राज्य प्रजा परिषद् का जो जलसा हुआ उसमें स्वीकृत नीमूचाणा सम्बन्धी प्रस्ताव महात्माजी का ही बनाया हुआ था।

सेठ जमनालालजी की इच्छा थी कि स्वावलम्बन पद्धति पर राजस्थान में कहीं खादी का काम हो। इसके लिए ऐसा क्षेत्र चाहिए जहां राष्ट्रीय जागृति, कपास की पैदावार, कताई के संस्कार, बुनाई की सुविधा और किसी प्रकार का संगठन मौजूद हो। बिजौलियां में ये सब अनुकूलताएं थीं। उन्होंने जेठालाल भाई नामक कार्यकर्त्ता को वहां भेजने की इच्छा प्रकट की।

मैंने सेवासंघ की तरफ से पंचायत के नाम इन्हें सहयोग देने की सिफारिश लिख दी। ये सेवक लगन के पक्के थे। जनता तैयार थी ही। खादी का काम शीघ्र बढ़ा और जम गया।

सेठजी की प्रेरणा से खादी का व्यावसायिक कार्य बढ़ाने के लिये भी प्रान्त में व्यवस्थित और व्यापक उद्योग शुरू हुआ। कांग्रेस कमेटियों के आधीन खादी मण्डल तोड़ कर अ० भा० चर्खा संघ नामक स्वतंत्र संस्था की स्थपना हुई ही थी कि श्री० बलवन्त सांवलाराम देशपांडे राजस्थान शाखा के मन्त्री नियुक्त होकर आ गए। ये साइंस के ग्रेजुएट थे। असहयोग काल में कालेज की डिमांस्ट्रेटरी छोड़ कर गुजरात में खादी का काम कर रहे थे। महात्माजी के आशीर्वाद और सेठजी के संरक्षण में इनकी कार्यकुशलता ने काम को फैलाया। एक समय चर्खा संघ प्रान्त की बड़ी से बड़ी सेवा—संस्थाओं में गिनी जाने लगा।

थोड़े ही अर्से बाद सेठजी ने श्री हरिभाऊ उपाध्याय को अजमेर भेज दिया। ये देशपांडे जी के साथ चर्खा संघ के प्रचार मन्त्री का काम करने लगे। ये सुलझी हुई तबियत के, सुसंस्कृत और शिष्ट आदमी थे। लेकिन उनका सबसे बड़ा गुण—जो बाद में मालूम हुआ—वो था इनकी वाणी की साधना। इनमें लेखक और विचारक दोनों की खूबियां थीं। इनके आगमन के साथ इस प्रान्त में गांधी युग का आरंम्भ हुआ।

हरीभाऊ जी के आने से थोड़े समय पहले सस्ता साहित्य मण्डल क़ायम हो चुका था। सेठ जमनालाल जी और घनश्याम दास जी बिड़ला की मदद थी। श्री० जीतमल लूणिया जैसे व्यवहारिक, सज्जन और परिश्रमी व्यक्ति मंडल को मंत्री मिल गये। कुछ दिनों बाद श्री वैजनाथ जी महोदय भी शरीक हो गये। ये सात्विक, साक्षर और स्नेही प्राणी थे। सस्ता साहित्य मंडल ने देश में पहले पहल हिन्दी में गांधी साहित्य सिलसिलेवार प्रकाशित किया। मण्डल की दूसरी पुस्तकें भी राष्ट्रीय, सुरुचिपूर्ण और उपयोगी निकलीं। दो वर्ष बाद मण्डल ने 'त्यागभूमि' नामक एक सम्पन्न और उच्चकोटि का मासिक निकाला। उसकी खूब ख्याति हुई। कुछ समय तक वह साप्ताहिक के रूप में जारी रहा। लेकिन कहते हैं कोई ३००००) रु० घाटा देकर और पत्रकार जगत में एक मधुर स्मृति छोड़कर अन्त में वह चल बसा।

सन् १९२६ में जोधपुर में असंतोष की लहर उठी। खास शिकायतें वहां के प्रधान मंत्री सर सुखदेवप्रसाद के स्वेच्छाचार और खानगी आचरण के खिलाफ़ थीं। इस राज्य में महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के कारण दलबंदी और षड्यंत्रबाज़ी का पीढ़ियों से दौर दौरा चला आरहा था। इस बार के आन्दोलन में सार्वजनिक भावना की प्रधानता थी। इसके नेता भी नये थे और मांगें भी नागरिक स्वतंत्रता से सम्बन्ध रखती थीं। राजस्थान सेवा संघ और उसके मुख पत्र से इसे बल मिला। एक

दिन जब मैं लम्बी बीमारी से उठा ही था एक लम्बे क़द के युवक, चौक़ड़ीदार कंबल का ओवरकोट और फ़ेल्ट की टोपी पहने हुये आये। उन्होंने अपना परिचय ख़ुद ही दिया। ये मारवाड़ की नवीन जागृति के नवीन नायक व्यास नयनारायण थे। उस समय तो बड़े संकोची जीव जान पड़े, मगर जैसे-जैसे परिचय बढ़ा इनकी विनोदशीलता, स्वतंत्र प्रकृति, उत्कट देश-भक्ति, राजनैतिक बुद्धि और स्वाभिमान आदि अनेक गुणों का अनुभव हुआ। इनमें लिखने, बोलने और प्रचार करने की शक्तियों का अच्छा संचय हुआ है। इनके साथी भंवरलाल जी सराफ़ की सरलता और निर्भीकता का परिचय भी इन्हीं दिनों मिला।

मेवाड़ और बून्दी के आंदोलनों में पथिकजी से जिन ल को विशेष प्रेरणा मिली उनमें स्व० भँवरलालजी स्वर्णकार का नाम उल्लेखनीय है। नेत्रहीन होकर भी इनमें कवित्व शक्ति थी। वे मेवाड़ी गाने बनाते और उन्हें गाकर देहाती जनता में जागृति का सन्देश पहुंचाते थे। इस सेवा के पुरस्कार स्वरूप उन्हें दोनों राज्यों में जेल की हवा खानी पड़ी। इस समय वे बूंदी की तरफ़ से अजमेर जेल में लम्बी सजा भुगत कर छूटे थे।

इसी साल मुझे रचनात्मक कार्य के संचालन के लिए बिजौ- लिया जाना पड़ा। रास्ते में नीमच में सेठ नथमलजी चोरड़िया से जान पहचान हुई। उन्होंने स्थानीय हरिजनों का साथ सारे कट्टरपंथी समाज के मुक़ाबले में अकेले दम दिया था। समाज-

सुधार के काम में भी वे जाति के विरोध की परवाह न करके अग्रगामी रहे थे। उनकी ज़िंदादिली और बहादुरी के लिए सभी के दिल में प्रेम और मान पैदा होता था। वे १६३० के सत्याग्रह में प्रान्तीय कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से जेल भी गये थे और जीवन के अन्तिम समय में स्त्री-शिक्षा के लिए एक बड़ी रक़म दान कर गये थे।

इस वर्ष जब मैं बिजौलिया में काम कर रहा था तो अंजना-देवी और रामसिंह मेरे साथ थे। इनके अलावा जयसिंह और वृद्धिसिंह नामक हमारे दो युवक जेठालालजी के साथ खादी कार्य करते थे। ये दोनों बेगूं के किसान थे। इन्हें संघ के आन्दोलन ने प्रभावित किया था। सामन्तशाही के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर उनका अंत करने की वे प्रतिज्ञा ले चुके थे। जयसिंह उनमें अधिक आदर्शवादी था। ग्रामीणों को कुटुम्ब और जमीन का मोह प्राणों से भी अधिक होता है। जयसिंह ने देश सेवा की ख़ातिर दोनों का त्याग कर दिया था। रावदा ठाकुर के अमानुषिक जुल्मों का दंड देने के लिए इन सबके दिलों में आगसी जल रही थी। तीनों नौजवानों ने ठाकुर के खिलाफ़ सशस्त्र कार्रवाई करने की योजना बनाई। यह उस समय की बात है जब मैं बीच में किसी काम से अजमेर चला आया था। पीछे ये तीनों गिरफ़्तार करके जयपुर भेज दिये गये। इस अवसर पर इन्हें लगभग १०० मील पैदल चलाया गया और कई तरह से ज़लील और पीड़ित किया गया। थोड़े दिन उदयपुर जेल में रख कर बिना मुक़दमा चलाये ही रामसिंह को राजनगर

और मोही में तथा जयसिंह और वृद्धिसिंह को वेगूं इलाके में नज़रबन्द कर दिया गया। कुछ अर्से बाद रामसिंह और जयसिंह इन बन्धनों को तोड़कर अजमेर चले आये।

सन् १९२७ में गांधी आश्रम की स्थापना हुई और हटूंडी में पक्के मकानात बने। यहीं गांधी सेवा संघ की राजस्थान शाखा क़ायम हुई। उपाध्यायजी इसके संचालक नियुक्त हुए और महोदयजी, बाबाजी और लूणियाजी सदस्य हुए। इस प्रकार प्रान्त में सत्याग्रह तत्व के प्रचार और रचनात्मक कार्य-क्रम की पूर्ति के लिए विधिवत और संगठित प्रयत्न शुरु हुए।

इस अर्से में पं० अर्जुनलालजी सेठी के नेतृत्व में कांग्रेस का काम होता रहा। उनके मुख्य साथी मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिरबेग, पं० चंद्रलालजी भार्गव और श्री सिरेमल दूगड़ रहे। परन्तु सन् १९३० तक जनसाधारण का समर्थन बहुत कम रह गया था। कोई ख़ास राजनैतिक कार्यक्रम भी नहीं था और रचनात्मक प्रवृत्तियां अधिकतर गांधी सेवा संघ और चर्खा संघ ने अपना ली थीं।

सन् १९२८ में पथिकजी उदयपुर जेल से छूट कर आये। उनकी रिहाई के साथ ही मेवाड़ सरकार ने भविष्य के लिये रियासत में उनका प्रवेश निषिद्ध कर दिया। मैं इस समय भरतपुर में राजस्थान हिन्दी साहित्य सम्मेलन में होता हुआ कलकत्ते गया था। भरतपुर का यह आयोजन श्री० क्षेमानन्दजी राहत और अधिकारी जगन्नाथदासजी के परिश्रम का फल

था। महाराजा किशनसिंहजी की पूरी मदद थी। उन पर भारत सरकार के कोप के बादल मंडराने शुरू हो गये थे। कारण जाब्ते में तो यह था कि पिछली बाढ़ के समय प्रजा पर बड़ी ज्यादतियां हुई थीं। शासन में बहुत सी खराबियां थीं और महाराजा के कृपा पात्र राजा किशन के खिलाफ़ गम्भीर व्यक्तिगत शिकायतें थीं। साथ ही यह भी सच था कि महाराजा कुछ दबंग आदमी थे। सरकार की तरफ़ से आफ़त आती देख कर उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र में क़दम उठाया और नेताओं का आशीर्वाद लेकर लोकप्रियता का सहारा ढूंढा। परन्तु जैसे विदेशी नौकरशाही की प्रजा के प्रति चिंताशीलता बनावटी होती है वैसे ही हमारे अधिकाँश राजाओं की देशभक्ति भी कमज़ोर सी होती है। इसमें औंध की तरह प्रजा सेवा की सच्ची भावना और व्यक्तिगत जीवन में शुद्धता हो तो साम्राज्यवादी सरकार इनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। अस्तु, भरतपुर सम्मेलन के सभापति प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा हुये थे और कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महामना मालवीय जी ने स्वयं पधार कर सम्मेलन का गौरव बढ़ाया था। सेठ जमनालालजी भी उपस्थित हुए थे। जलसा शानदार रहा।

कलकत्ते में अग्रवाल महासभा का अधिवेशन था। श्री० केशवदेवजी नेवटिया सभापति थे। यह पहली जातीय संस्था थी जिसने शुरू से अपनी नीति और गति विधि प्रगतिशील

राष्ट्रीयता और रियासती जनता की राजनैतिक आकांक्षाओं के अनुकूल रक्खी। इस समय पुराने विचार के लोगों और सुधारकों में जोर का द्वन्द्व छिड़ा हुआ था। मैं भी शरीक हुआ, मगर मेरा असली उद्देश्य तो देशी राज्यों की जनता के पक्ष को गति देना और संघ के लिए धन-संग्रह करना था। इस अवसर पर चार मारवाड़ी मित्रों से विशेष परिचय हुआ। इन्ही के प्रयत्न से मुझे अपने उद्देश्य की पूर्ति में अच्छी सफलता मिली। इनमें से पहले थे श्री० कन्हैयालाल चितलांगिया। इनसे मुलाक़ात तो सीकर के जाट आन्दोलन के सिलसिले में फतहपुर में ही हो चुकी थी, मगर घनिष्ठता कलकत्ते में हुई। ये और श्री० मदनमोहनजी सारडा एक साथ रहते थे। मैं इन्ही के यहां ठहरा। दोनों अत्यन्त सभ्य, सुसंस्कृत और स्वाभिमानी थे। उनका रहन-सहन देखकर एक आदर्श राजस्थानी गृहस्थ की कल्पना होती थी। धनिकों में मुझ पर स्व० रामकृष्ण जी मोहता और श्री० सोहनलालजी दूगड़ की बहुत अच्छी छाप पड़ी। दानी तो कई देखे थे, परन्तु इनकी उदारता में असाधारण नम्रता थी। वे दिल खोल कर देते थे और श्रद्धा के साथ देते दे। बदले में कुछ नहीं चाहते थे।

कलकत्ते में मुझे पथिकजी के छूटने की खबर मिली। मैं सेठ जमनालालजी के साथ उड़ीसा का प्रवास करके और वहां की दरिद्रता का हृदय विदारक दृश्य देखकर लौटा ही था कि यह समाचार पाकर अधूरा काम छोड़कर अजमेर चला आया। यहां

पं० नित्यानन्द जी नागर ने पथिकजी के सम्मान में एक शानदार भोज दिया जिसमें नगर के सभी राष्ट्रीय कार्यकर्ता और कई भद्र पुरुष शरीक हुए।

लेकिन इसी वक्त यह दुःखद समाचार आया कि करौली के कुंवर मदनसिंहजी संसार में नहीं रहे। वे राजस्थान के उन विरले आधुनिक वीरों में से थे जिन्होंने राज्य के भीतर रह कर शासन से लोहा लिया। उनके पिता करौली के दीवान रह चुके थे और वे चाहते तो उन्हें भी किसी उच्च पद की भारी सुविधाएं मिल सकती थीं। लेकिन परमात्मा ने उन्हें एक शेर का हृदय दिया था जिसमें एक अहिंसक की सेवा भावना कूट कूटकर भरी थी। उन्होंने करौली राज्य में हिन्दी को राज्य भाषा बनाने, शिकार, बेगार और लगान की ज्यादतियों से किसानों को राहत दिलाने और शासन सुधार कराने के लिये बरसों तक रियासत से टक्कर ली, अखबारों में खूब आन्दोलन किया और अन्त में आमरण उपवास तक का सहारा लिया। भगवान् ने उन्हें खासी सफलता भी दी, परन्तु दीर्घजीवन नहीं दिया। वे राजस्थान सेवा संघ के सदस्य और मेरे घनिष्ट मित्रों में से थे। करौली राज्य में जो कुछ जागृति और सेवा कार्य दिखाई दे रहा है वास्तव में वह मदनसिंहजी के ही पुण्य-बीज का फल है।

इस समय मेवाड़ के प्रधान मन्त्री के आसन पर सर सुखदेवप्रसाद आसीन थे। ये राजस्थान के आधुनिक चाणिक्य माने जाते थे। इनके लिये हॉलैंड साहब का यह मत था कि

मध्यकालीन भारत में हुये होते तो कहीं के राजा बन बैठते। इनके और बीकानेर महाराजा गंगासिंहजी के बीच प्रतिस्पर्धा थी। व्यासजी वगैर: के आन्दोलन के परिणाम स्वरूप ये जोधपुर से निर्वासित होकर कई वर्ष अजमेर रह चुके थे। मेवाड़ पहुंच कर इन्होंने पथिकजी को छोड़ने के साथ ही किसानों को दबाना शुरू किया। बिजौलिया के समझौते की कुछ शर्तें ठिकाना तोड़ रहा था और राज्य समझौते में रही हुई खामियां सुधार नहीं रहा था। इस पर असंतोष बढ़ा और कोई सुनवाई न होती देख कर किसानों ने माल (बारानी) जमीन से इस्तीफा दे दिया। इस जमीन पर लगान का बोझा बहुत भारी था। किसानों को शिकायतें दूर करने के बजाय ये जमीनें महाजनों, हरिजनों और जागीरदारों वगैर: को बेच दी गई। इस वक्त तक पथिकजी छूट आये थे।

बिजौलिया के किसान अपने आग्रहपूर्ण निमंत्रण पर पथिकजी और साथ में मैं और हरिजी भी रवाना हुये। हम तीनों का ही मेवाड़ में जाना मना था। इसलिये हम लोग ग्वालियर के सिंगोली इलाके में फूसरियां गांव पहुंचे। यह बिजौलिया की सीमा पर है। यहाँ के किसान सत्याग्रहियों के सगे सम्बन्धी और उनकी प्रवृत्तियों से वाकिफ थे। हमारे साथ शोभालालजी व केसरपुरा ग्वालियर के पटेल रामबख्शजी आर्य भी हो लिये थे। वे हमारे पुराने मित्र व संघ के भक्त थे। पथिकजी के दर्शनों के लिये इलाके भर के लोग आये। दिन भर

स्त्री-पुरुषों का तांता लगा रहा। हरेक ने अपनी श्रद्धा प्रगट की, सत्याग्रह की प्रतिज्ञा को दोहराया और पथिकजी ने उन्हें प्रोत्साहन देने वाला भाषण दिया। मेवाड़ सरकार और बिजौलिया ठिकाने को हम लोगों का इस तरह उधर जाना और लोगों का सम्मान प्रदर्शित करना खटका। उनकी घुड़ सवार सेना की एक टुकड़ी रास्ते में घात लगा कर बैठ गई जहां सड़क का कुछ भाग मेवाड़ की हद में से गुजरता था। हम लोगों का कार्यक्रम दूसरे रोज सुबह प्रस्थान करने का घोषित हो चुका था। इसकी खबर पाकर मेवाड़ी अधिकारियों ने हमें मार्ग में से ही पकड़ ले जाने की योजना बनाई थी। रात को ग्यारह बजे जब हम दिन भर के थके मांदे आराम करने की तैयारी कर रहे थे तो रामबख्शजी सिंगोली के सरकारी हल्कों से इस योजना की खबर लेकर आये। हमारा कार्यक्रम तुरन्त बदल गया। हमारे तांगे सिंगोली में ही रहे और हम रात के एक बजे 'जब सारी दुनियां सोती थी' पैदल चल दिये। चांदनी रात थी। हम कोई एक दर्जन साथी थे। आगे-आगे जानकार पथ-प्रदर्शक थे। सड़क छोड़कर चले और सुबह होते होते खतरे से बहुत दूर निकल गये। उधर रामबख्शजी तड़के ही तांगे लेकर चले। रास्ते में मेवाड़ी वीरों की फ़ौज मिली। यह जानकर कि शिकार हाथ से निकल गया बेचारे हाथ मल कर घर लौट गये। थोड़े दिनों बाद पथिक जी को और मुझे ग्वालियर से यह आज्ञा मिली कि हम दोनों मेवाड़ से लगे हुये दस मील के सींधिया इलाके में नहीं जा सकेंगे।

इस समय राजस्थान में काम करने वाले मुख्य तीन दल थे। देशी राज्यों की राजनीति सेवा संघ के हाथों संचालित होती थी। पथिक जी उसके मुखिया थे। कांग्रेस के नेता सेठीजी थे। उसकी अजमेर और ब्यावर शाखायें सजीव; केकड़ी और पुष्कर में नाम मात्र की और कोटा, करौली, जोधपुर और इन्दौर की विद्यमान थीं। तीसरा दल गांधीवादियों का था। इसके असली नायक सेठ जमनालालजी थे, मगर उसके स्थानीय प्रतिनिधि के रूप में हरिभाऊ जी काम करते थे। तीनों में सहयोग का अभाव था। भीतर भीतर विरोध की भावना भी काम कर रही थी। सेवा संघ की इच्छा थी कि कम से कम गांधी दल के साथ सहयोग रहे। पिछले लम्बे कारावास में गांधी जी के प्रति पथिक जी की श्रद्धा व्यक्ति से आगे बढ़कर विचारों के क्षेत्र तक पहुँचती नज़र आरही थी। वे साबरमती गये, बापू से मिले और सेठजी से चर्चा की। परन्तु सहयोग का रास्ता सुगम न हुआ। आधुनिक राजस्थान के इतिहास में यह एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना हुई।

बड़े दिन की छुट्टियों में बम्बई में अखिल भारतीय देशी राज्य प्रजा परिषद की बैठक हुई। यूं तो सन् १९२३ में दिल्ली में और १९२५ में कानपुर में भी परिषद के जल्से हो चुके थे, परन्तु वे शुरूआत मात्र थे। उन्हें आठ करोड़ प्रजा जनों के प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता था। यह स्वरूप एक हद तक बम्बई के अधिवेशन को मिला। राजा और अंग्रेज दोनों की इस पर नज़र पड़ी। इस संस्था पर बीकानेर महाराजा की शुरू

से ही गहरी और टेढ़ी आंखें रहीं। इस अधिवेशन पर देश के कौने कौने से रियासती प्रजा के प्रतिनिधि आये। उस वक्त भारतीय रजवाड़ों में दो दल क्रियाशील थे, राजस्थान में सेवा संघ और काठियावाड़ में सौराष्ट्र मंडली उसके नेता श्री अमृतलाल जी सेठ थे। इनका गुजराती साप्ताहिक 'सौराष्ट्र' एक जोरदार और प्रभावशाली पत्र था। सौराष्ट्र सेवा समिति उनकी एक अच्छी और संपन्न सेवा संस्था थी।

सर्व श्री० बलवन्तराय मेहता, ककल भाई कोठारी, मणि-शंकर त्रिवेदी और झवेरचन्द मेघाणी जैसे योग्य कार्यकर्ता अमृतलाल भाई के सहायक थे। इनमें और सेवा संघ में खास भेद यह था कि 'सौराष्ट्र' दल शहरी आन्दोलन करता था और रियासतों में बृटिश हस्तक्षेप का विरोधी नहीं था, जब कि सेवा संघ गांवों में काम करता था और अंग्रेजों का दखल नहीं चाहता था। परिषद् के संयोजन और सचालन में सौराष्ट्र मंडली की प्रधानता थी। सेवा संघ का सहयोग था। श्री० मणिलालजी कोठारी सेवासंघ के साथ थे। बृटिश हस्तक्षेप सम्बन्धी नीति के कारण कांग्रेस के नेताओं और महात्माजी का आशीर्वाद परिषद् को प्राप्त नहीं हुआ था और सभापतित्व के लिये उसे नरमदल के महारथियों पर निर्भर रहना पड़ता था। तदनुसार इस अधिवेशन के लिये मद्रास के दीवान बहादुर रामचन्द्रराव अध्यक्ष चुने गये, परन्तु लोगों की आंखें पथिकजी की ओर लगी हुई थीं। उनका जैसा स्वागत हुआ

वैसा अध्यक्ष का नहीं हुआ। वे उपाध्यक्ष चुने गये और मैं राजपूताना मध्यभारत और पंजाब के लिये मन्त्री। इस परिषद् में रियासती प्रजा की तरफ से अंग्रेज जनता को अपनी स्थिति समझाने के लिये एक डेपुटेशन लंदन भेजना तय हुआ। बटलर कमेटी के सामने प्रजा पक्ष रखने का भी सवाल था। लेकिन उसने हमारे प्रतिनिधियों की बात तक नहीं पूछी। इस अधि-वेशन में सर्व श्री० राजा गोविन्दलाल पित्ती, निरंजन शर्मा अजित और मदनलाल जालान से विशेष सम्पर्क हुआ। पित्ती जी मारवाड़ी समाज के बड़े धनिकों में एक होने के अलावा उच्चशिक्षित और रियासती राजनीति में अच्छा रस लेने वाले थे। अजितजी मंजे हुए पत्रकार तो थे ही। इनके स्पष्ट वक्ता, तबीयत के साफ और वफादार मित्र होने का भी अच्छा अनु-भव हुआ। देशी राज्यों की प्रजा के प्रति इनकी निष्ठा, भक्ति में कभी फर्क नहीं आया। जालानजी बम्बई के मारवाड़ी कार्य-कर्त्ताओं में प्रमुख थे। वे और उनके साथी सर्व श्री० श्रीनिवास बगड़का, प्रेमचन्दजी केड़िया और कुछ दूसरे लोग राजस्थान की सेवा संस्थाओं और प्रवृत्तियों को बराबर बल और सहायता पहुंचाते रहते थे।

जब हम परिषद् से लौट कर आये तो खबर मिली कि भरतपुर के महाराजा किशनसिंहजी और अंग्रेज सरकार के सम्बन्ध दिन २ बिगड़ते जा रहे हैं। एक तरफ उनकी मनमानी कार्रवाइयों और उड़ाऊ खाऊ नीति से प्रजा

क्रुद्ध और त्रस्त हो चुकी थी। दूसरी तरफ़ उनके स्वाभिमानी रवैये को अंग्रेज़ प्रभु नापसन्द कर रहे थे। इसी तनातनी में महाराजा ने अपने विचारों और कार्यों में थोड़ी राष्ट्रीयता और थोड़े लोकतन्त्र की झलक दिखाना शुरू कर दिया। बस उनकी और भारत सरकारके पोलीटीकल डिपार्टमेंट की ठन गई। जब बात बहुत बढ़ती दिखाई दी तो उन्होंने सेवा संघ को याद किया। पथिकजी और मैं भरतपुर पहुंचे। हम लोगों ने प्रजा पक्ष को अच्छी तरह जानने और उसे पूरी तरह सन्तुष्ट करने पर जोर दिया। इसमें महाराज के अहंकार और कमज़ोरियों ने बाधा दी। फल यह हुआ कि उनसे हमारी मुलाक़ातें तो हुई और खुल कर बात चीत भी हुई, मगर सहयोग न हो सका। थोड़े समय बाद महाराजा और उनके सहायक अधिकारी जगन्नाथ-दास वग़ैरा निर्वासित कर दिये गये और भरतपुर में अंग्रेज़ों के आधीन नाबालग़ी शासन क़ायम हो गया। कुछ समय बाद महाराजा किशनसिंह चल बसे।

भरतपुर के संबन्ध में कुछ भी लिखते समय श्री० गोकुलजी वर्मा का उल्लेख करना अनिवार्य है। सेवा संघ के प्रारम्भ से ही वे हम लोगों के साथी और सहायक रहे। कुशासन के खिलाफ़ आन्दोलन हुआ तो वे प्रजा के अगुवा थे, हरिजन सेवा संघ का भार उठाने का मौक़ा आया तो उन्होंने अपने कंधे आगे कर दिये थे और प्रजा मंडल का युग आया तो वे बीच खेत मौजूद थे। सार यह कि इस सैनिक संस्कार वाले

ई शेर ने भरतपुर के आधुनिक इतिहास में अचल होकर शुरू से आखिर तक प्रजा पक्ष का नेतृत्व किया। इस कठिन कार्य में उन्हें जेल की यातनायें भुगतनी पड़ीं, आर्थिक कष्ट उठाने पड़े और अनेक वार अकेले दम लड़ना पड़ा। इनका हृदय स्फटिक की भांति स्वच्छ है। वे जितने उत्कट देशभक्त हैं उतने ही सुधारक भी हैं।

यह समय वह था जब अंग्रेज राजनीतिज्ञ भारतीय नेताओं को ताने मारा करते थे कि कोरी टीका से क्या हो, कोई योजना पेश की जाय तो उस पर विचार भी हो। भारत मंत्री, लार्ड वर्कनहैड इन आलोचकों में मुख्य थे। जवाब में कांग्रेस की तरफ़ से एक सर्व दल सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन ने पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में विधान बनाने के लिए एक कमेटी मुक़र्रिर की। कमेटी ने बड़ी मेहनत करके एक योजना तैयार की जो नेहरू रिपोर्ट के नाम से विख्यात हुई। लखनऊ में सर्व दल सम्मेलन का खुला अधिवेशन हुआ। उसमें कोठारीजी, पथिक जी, शोभालाल जी और मैं रियासती जनता के प्रतिनिधि बन कर गये। कमेटी ने राजाओं के इस दावे को खारिज किया कि उनका सीधा संबंध सम्राट से रहे और यह राय दी कि वे वर्तमान की तरह भविष्य में भी भारत की राष्ट्रीय सरकार के साथ सम्बन्ध रक्खें। मुझे याद है इस विषय पर बोलते हुए कोठारी जी के मुंह से कुछ राजाओं के लिये 'नामर्द' शब्द निकल गया था। इस पर बीकानेर महाराजा बड़े बिगड़े और एक भाषण

में अपनी और अपने पुरखों की तलवार की याद दिलाने पर उतर आये। राष्ट्रीय पत्रों ने इस दर्प का उत्तर देते हुए ठीक ही कहा था कि जो लोग विदेशियों के सामने भेड़ बने रहें और अपनों को शमशेर दिखावें वे मर्द तो नहीं कहे जा सकते। राजस्थान के सार्वजनिक जीवन में इसी साल एक बड़ी दुःखद घटना हुई। सेवा संघ में आपसी मतभेद हो गया और पथिकजी से हम लोग अप्रिय रूप में अलग पड़ गये। संघ और उसका मुख पत्र श्री मणिलालजी कोठारी के सुपुर्द कर दिया गया। उनकी देखरेख में श्री० जयनारायणजी व्यास और ऋषिदत्त जी मेहता 'तरुण राजस्थान' को ब्यावर ले जाकर चलाने लगे। लेकिन इसके बाद न वह संस्था रही और न उसकी आवाज़ में वह जोर रहा। सचमुच कई बातों में वह संस्था अद्वितीय थी। उसके लगभग दस साल के जीवन में उसके सदस्य व कार्यकर्त्ता बड़ी कौटुम्बिक भावना के साथ रहे। संघ के सिवाय उनके दूसरे पारिवारिक सबंध गौण हो गये थे। वे सब एक साथ खाते पीते व सब एक साथ रहते थे। संघ के साथ उनका इतना ममत्व था कि निकट सम्बन्धियों के आतिथ्य का भार भी वे संस्था पर न पड़ने देते थे। रूखा सूखा खाकर और मोटा झोटा पहन कर काम में लगे रहने की ही उनमें धुन थी। ऐसे प्रसंग भी आये जब उन्हें महीनों दूध और घी के दर्शन नहीं हुए। उनके हाथ में पैसा आता तो अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं पर खर्च करने से भी अधिक खयाल उन्हें किसी प्रजाहित सम्बन्धी प्रेस तार भेजने का रहता था।

छोटे से छोटा काम करने में उन्हें संकोच नहीं था। रेल के में वे अपना सामान आप ख़ुद उठाते थे और ऐसे भी मौक़े आये कि जो आदमी पत्र का संपादक और संस्था का पदाधिकारी था, वही अखबारों की बोरी अपनी पीठ पर लाद कर डाकखाने में डाल आया। मेहनत भी वे लोग बारह चौदह घंटे से कम नहीं करते थे। देहात का पैदल सफ़र और अपना सब काम अपने हाथों कर लेना मामूली बात थी। अनुशासन की वैसी मिसाल शायद राजपूताने में तो किसी दूसरी संस्था में नहीं मिल सकती। अपने नेता के सिवाय कोई भी कार्यकर्त्ता व्यक्तिगत प्रकाशन नहीं करता था। संगठन इतना मज़बूत था कि मुट्ठी भर आदमी होते हुए भी राज्य सत्ताएं यह समझती थीं कि संघ के पास कार्यकर्त्ताओं की कोई बड़ी सेना होगी। इस नाज़ुक अवसर पर भी स्व० विद्यार्थी जी ने कानपुर से आकर मेल मिलाप कराने की कोशिश की, परन्तु विकारों की प्रधानता होती है तो दिलों की सफ़ाई आसानी से नहीं हुआ करती। आखिर वह सफ़ाई सन् १६३५ में हुई। इस बीच में मैंने अपनी भूल तो अर्से से अनुभव करली थी परन्तु पथिकजी की ओर से कोई ऐसा संकेत नहीं मिला था। एक दिन वे नारेली आये और आंखें भर कर कहने लगे, "मैंने तुम लोगों जैसे साथी खोकर जीवन की सबसे बड़ी भूल की।" उनके हृदय से निकले हुए इस एक वाक्यने हमारा आपस का सारा मैल धो दिया। वस्तुतः दिलों की सफ़ाई इसी तरह हुआ करती है।

छठा अध्याय

कुछ स्वतंत्र विचरण

सेवा संघ के टूट जाने के बाद ही मुझे राजपूताने की रिया- सती प्रजा परिषद बुलाने की धुन सवार हुई । अजमेर का वातावरण अनुकूल नहीं था । अनेक दिशाओं से विघ्न बाधाएं आईं । परन्तु स्वतंत्र होकर कुछ कर दिखाने का हौसला और कठिनाइयों के बीच में से रास्ता बना लेने का आत्म-विश्वास हार मानने को तैयार नहीं था । आस पास के रज- वाड़ों में कार्यकर्त्ता भी ऐसे आयोजन के लिए उत्सुक थे । श्री० अमृतलाल सेठ ने अध्यक्ष पद स्वीकार कर लिया । कोठारी जी की सहानुभूति थी । पं० नयालाल और उनके साथी मेरी पीठ पर थे । अतः परिषद हुई और सफलतापूर्वक हुई । लेकिन अवां- छनीय हाथों में पड़कर मृत्यु के गाल में विलीन हो गई ।

इस अधिवेशन की कामयाबी और उसके अनुचित विरोध की प्रतिक्रिया स्वरूप एक तरफ मुझे नये मित्र और सहायक मिले और कुछ नया और कठिन लगने वाला काम करने की प्रेरणा हुई । शोभालालजी की सहायता से फरवरी १६२६ में

"यंग राजस्थान" नामक अंग्रेजी साप्ताहिक निकाला। अनेक मित्रों ने इसे एक दुःसाहस ही समझा। परन्तु बाद में न उन्हें अफ़सोस रहा, न हमें। सरकारी हल्कों तक में यह पत्र चाव से पढ़ा जाने लगा।

हम लोग ब्यावर जाकर बसे ही थे कि सेठीजी और उनके दोस्तों के साथ हरिभाऊ जी के दल का चुनाव युद्ध छिड़ गया। यह प्रान्त क राजनैतिक नेतृत्व में आमूल परिवर्तन का प्रयत्न था। बाबाजी उपाध्यायजी के दाहिने हाथ थे। उनके कारण कई परस्पर विरोधी व्यक्तियों का भी सहयोग मिल गया। चुनाव लड़ा गया। झूंठे मेम्बर बनाये गये, उनके लिए खादी के कपड़े बनवा कर 'ग्रीन रूम' पद्धति का उपयोग किया गया और बनावटी गवाहियां और सबूत पेश किये गये। संस्थाओं का दुरुपयोग भी हुआ। गरज़ यह कि दोनों तरफ़ से अवांछनीय कार्रवाइयां हुई। पं० जियालालजी से उपाध्यायजी को बड़ी मदद मिली। रुपये का बल तो अधिक था ही, जन बल भी मिल गया। लोग परिवर्तन भी चाहते थे। सेठीजी परास्त हुए। उन्हें ऐसी चोट लगी कि फिर नहीं पनपे। अधिकांश मुसलमान कार्यकर्ताओं के दिल उसी समय से कांग्रेस से फिर गये और उनमें से कुछ लोग धीरे धीरे साम्प्रदायिकता के गर्त में गिरते चले गये। प्रान्तीय कांग्रेस में गांधीवादी दल की प्रधानता हो गई और राष्ट्रीय जीवन में सात्विकता और प्रतिष्ठा की झलक सी आ गई। परन्तु पारस्परिक मतभेद फिर भी न मिटे और जैसी

आशा की गई थी उसके अनुसार कांग्रेस संगठन में बल नहीं आ पाया।

हिंसा की नीति की निष्फलता और अवांछनीयता का तो मैं दस साल पहले ही क़ायल हो चुका था। इस अर्से के अनुभव और पिछले दो साल के झगड़ों ने 'शठं शाठ्यम्' के परिणाम इतने नग्न और भयंकर रूप में दिखाये कि आत्मा प्रबल रूप से गाँधी जी की ओर आकृष्ट हुई। सेठ जमनालालजी के वसीले से मैं अगस्त या सितम्बर १९३० में साबरमती पहुँच गया। लगभग एक मास महात्माजी के निकट सान्निध्य में रहा। उनके आदेश से मैं दिन भर उनके पास बैठा तकली चलाया करता, उनकी गति विधियां देखा करता, उनके सम्वाद सुना करता और अवकाश में अपनी शंकाओं का समाधान किया करता। एक दिन की बात है। बृटि मजदूर दल के एक प्रमुख व्यक्ति और पार्लियामेन्ट के सदस्य कमाण्डर केनवर्दी महात्माजी से मिलने आये। उन्होंने बृटिश शासन के प्रति भारतीय आरोप सही मान कर पूछा "देशी रजवाड़ों के लिए आप क्या कहते हैं?" गांधीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "वहां का हाल अंग्रेजी इलाक़े से बुरा है, मगर उसकी जिम्मेदारी आप लोगों की है। आप का हाथ उनकी पीठ पर से हट जाय तो राजा या ख़ुद सुधर जायेंगे या हम उनसे निबट लेंगे।" कमाण्डर बोले, 'रियासतों में हमारे एजेन्ट ज़ुल्म को रोकने के लिए ही तो हैं।' सरदार वल्लभ भाई कब चूकने वाले थे। बीच में ही कह उठे, 'अगर मुझे किसी

रियासत में रेज़ीडेण्ट बना दिया जाय तो सात पीढ़ी तक कमाने कजाने की फ़िकर ही न रहे।'

इस छोटे से सम्वाद में रियासती राजनीति का सार आगया था। मेरा जीवन देशी राज्यों की प्रजा की सेवा में अर्पण हो चुका था। इसी प्रश्न पर महात्मा जी के विचारों से मतभेद था। वह इस बार दूर होगया। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रस्ताव किया कि मैं सारा समय लगाने को तैयार हो जाऊं तो उन्हें रियासतों की सेवा के लिए एक अखिल भारतीय संस्था की नींव डालने तक में .खुशी होगी। मुझे और क्या चाहिये था? .खुश होगया। गांधी जी ने .खुद विधान तैयार किया और संस्था का पथ प्रदर्शन करना स्वीकार किया। लेकिन दुर्भाग्यवश सेठ जमनालाल जी व श्री मणिलाल जी कोठारी एक मत न हो सके और वह योजना काग़ज़ पर ही रह गई। आगे चलकर मैंने हरिजन कार्य के विस्तार से जरूर लाभ उठाया। गांधी जी ने तत्काल आदेश दिया, 'तुम पत्रकार बनकर अपनी शक्ति को क्यों व्यर्थ खोरहे हो? कोई ठोस काम करना चाहिए। अखबार बन्द करके मेरे पास चले आओ।' शोभालाल जी को मेरी यह भावुकता और जल्दबाजी पसन्द तो नहीं आई, मगर मुझे नाराज़ करने-को उनका जी नहीं चाहता था। उनका स्नेह साथीपन की सीमा पार करके आत्मीयता की शक्ल अख़्तियार कर चुका था। उन्होंने सिर्फ़ अग्रलेख पर शेक्सपीयर की दो पंक्तियां जोड़कर अपनी पीड़ा व्यक्त करदी और डेरा-डंडा उठा-

कर मेरे साथ हो लिए। लाहौर कांग्रेस के तुरन्त बाद हम दोनों सपरिवार सत्याग्रह आश्रम पहुँच गये।

ब्यावर में हम लगभग एक साल रहे। इस प्रवास में दो व्यक्तियों से खास सम्पर्क आया। पहले तो थे श्री मुकुट विहारी लाल भार्गव। ये उठते हुए वकील थे। उत्साह, बुद्धि और भावुकता आदि सार्वजनिक जीवन में चमकने की इनमें अनेक पात्रताएं थीं। लिखने बोलने की क्षमता थी, परन्तु बूढ़े पिता के पुराने विचारों का अंकुश इन्हें रोके हुए था। दूसरे आदमी छगनमल जी बोहरा थे। ये निरे व्यवसायी थे परन्तु उनकी निःस्वार्थ मित्रता अनेक अवसरों पर हमारे काम आई।

सार्वजनिक दृष्टि से 'यंग राजस्थान' के जीवन में श्री० रघुनाथ प्रसाद परसाई का इन्दौर सम्बन्धी पर्चा और उसके आधार पर चलाया गया राजद्रोह का मुक़दमा उल्लेखनीय है। परसाई जी इन्दौर और मालवे के राज्यों की राजनैतिक समस्याओं में दिलचस्पी रखते थे। अखबारों में लिखने के शौक़ीन थे। उन्होंने इन्दौर के दीवान सर सिरेमल बापना के शासन काल पर एक आलोचनात्मक पर्चा निकाला। वह 'यंग राजस्थान' प्रेस में ही छपा था, लेकिन गुप्त रूप से। उसका पार्सल तो इन्दौर स्टेशन पर पकड़ा गया, परन्तु प्रेस का पता राज्य को पूरी तरह से नहीं चला था। इस बीच में मैं गांधीजी के तत्वज्ञान को मानने लगा था। यह रहस्य मैंने उन पर प्रकट करते हुए प्रस्ताव किया कि अधिकारियों को सूचना दे दी जाय तो कैसा रहे? बापूजी को

यह तजवीज़ अच्छी लगी और वहीं से मैंने अजमेर के कमिश्नर को इस आशय का पत्र लिख दिया कि उक्त पर्चा मैंने छापा है। इस ग़ैरक़ानूनी कार्य पर मुक़दमा चलाना चाहें तो मैं अपने को सहर्ष उपस्थित कर दूंगा। जहां तक मुझे खयाल है इस अपराध पर लम्बी क़ैद और भारी जुर्माने की सजा दी जा सकती थी, मगर गिब्सन साहब के लिए और कुछ भी कहा जाय, वे एक शरीफ़ अंग्रेज़ थे। वे इस घटना को पचा गये। मैंने 'यंग राजस्थान' का डिक्लेरेशन ब्यावर में दे दिया था। अजमेर के अंधेर में कमिश्नर साहब को इसकी खबर नहीं हुई। इन्होंने मुझसे जवाब तलब किया कि मुक़दमा क्यों नहीं चलाया जाय ? लेकिन जब मैंने वस्तु स्थिति बताई तो खुली अदालत में क्षमा याचना करने में इन्हें ज़रा भी संकोच नहीं हुआ। अवश्य ही परसाईजी पर इन्दौर में अभियोग चला और जैसी धारणा थी, इन्हें सजा भी हो गई। लेकिन वापना साहब के पक्ष में यह मानना पड़ेगा कि मुक़दमे की कार्रवाई के दौरान में क़ानून की दृष्टि से दोष रहे हों तो भी कम से कम अभियुक्त को सजा देने और उसके साथ जेल के व्यवहार में बदले की भावना से काम नहीं लिया गया।

'यंग राजस्थान' के सिलसिले में चार सहायकों का ज़िक्र करना आवश्यक है। सबसे अधिक मदद मिली भादरा (बीकानेर) के स्व० .खूबरामजी सराफ़ से। ये राजस्थान के एक पुराने और मूक सेवक थे। इन्होंने जो कमाया उसका

अधिकांश जनसेवा में खर्च किया। इनका हाथ जितना उदार था हृदय उतना ही निर्मल था। इनके दान में अहंता नहीं, विनम्रता रहती थी। दूसरे सहायक रा० सा० विश्वम्भरनाथजी टंडन थे। इनसे परिचय तो उस वक्त हुआ जब असेम्बली के चुनाव में इनका और दी० ब० हरविलासजी शारदा का मुका- बिला था। लेकिन बाद में राय साहब से मेरा स्नेह सम्बन्ध हो गया। ये विचारों में नरम दल के और रहन-सहन में अजमेर के प्रमुख अमीरों में थे। मेरे और इनके खयालात और जीवन में रात दिन का फ़र्क था। मगर इनके प्रेमपूर्ण हृदय, निष्कपट व्यवहार, नियमित जीवन और सिद्धांत निष्ठा ने मुझे सदा के लिए आकर्षित कर लिया। शारदाजी का प्रेम भी मुझे इसी चुनाव में मेरे 'अवैयक्तिक' विरोध के कारण प्राप्त हुआ। चौथे सहायक जोधपुर के प्रसिद्ध राजनैतिक पुरुष और उदार मित्र श्री० आनन्दराजी सुराणा थे। अवश्य ही 'यंग राजस्थान' बन्द होने पर जब ग्राहकों की तरह सहायकों से हमने पूछा कि वे चाहें तो उनका रुपया वापस दिया जायगा तो चन्द खरीददारों के सिवाय किसी ने ऐसी मांग नहीं की।

सातवां अध्याय

गांधी जी के चरणों में

जनवरी १९३० में जब हम साबरमती पहुंचे तो वहां कोई दो सौ स्त्री पुरुष रहते थे। आने वाले सत्याग्रह की तैयारी में देश भर से कार्यकर्त्ताओं का जाना बना रहता था और बहुत से वहीं रह कर कुछ दिन लाभ उठाना चाहते थे। नियमों के पालन में इतनी कड़ाई की जाती थी कि एक मास में तीन भूलें हो जाने पर आश्रम छोड़ देना पड़ता था। इतने बड़े समुदाय में स्वतन्त्रता, संयम, सफ़ाई, कार्य तत्परता और सहयोग मेरे लिए एक मूल्यवान पदार्थ पाठ था। शरीर श्रम में झाड़ू देने का काम मुझे सदा से प्रिय रहा है। साबरमती में वही मिल गया और वह भी गांधीजी के सैर पर जाने के मार्ग की सफाई का। इसके अलावा मुझे कताई बुनाई सीखने और हिन्दी पढ़ाने का काम दिया गया। मैं लगभग छः महीने वहां रहा। आश्रम के कार्य-कर्त्ताओं में श्री० नारायणदास गांधी और कु० प्रेमा बहन कण्टक की मुझ पर विशेष छाप पड़ी।

यह वर्ष भारत के इतिहास में एक स्मरणीय काल था। नमक सत्याग्रह छिड़ने वाला था। उसकी तैयारी की चर्चा आश्रम ही में हुई थी। वहीं उसकी

योजना बनी। दाण्डी का कूच भी वहीं से शुरू हुआ था। उसमें शरीक होने की मंजूरी तो मुझे नहीं मिली। परन्तु जब 'बुद्धिमानों' के उपहास और शंका का पात्र यह छोटा सा आंदोलन देश व्यापी तूफ़ान की शकल पकड़ गया और राजस्थान ने भी उसमें योग्य हिस्सा लेना शुरू कर दिया तो मुझ से न रहा गया। मैं दाण्डी पहुंचा और बापू से अजमेर जाने की स्वीकृति ले आया। प्रायः सभी पुराने कार्यकर्ता गिरफ़्तार हो चुके थे। थोड़े दिनों बाद मुझे भी एक साल की कड़ी कैद की सजा होगई। इस आन्दोलन में कई नये कार्यकर्त्ता सामने आये। श्री कृष्णगोपालजी गर्ग की सी धुन, किसी प्रश्न की गहराई में जाने की वृत्ति और शक्ति तथा कार्य साधन में अपने शरीर सुख को भुला देने की क्षमता विरलों में ही पाई जाती है। श्री गोकुललाल असावा का त्याग, कांग्रेस निष्ठा और वैधानिक जानकारी उनकी विशेषताएं हैं। श्री० बालकृष्ण कौल की शान, शिष्टता और बुद्धिशालीनता की छाप हर किसी पर पड़ती है। मास्टर लक्ष्मी नारायणजी का तपस्वी जीवन सबको प्रेरणा देता था। श्री० जमालुद्दीन मखमूर का भी एक विशेष व्यक्तित्व था। भाई चन्द्रभानुजी शर्मा से घनिष्टता इसी अवसर पर हुई। उन्होंने असहयोग काल में कालेज छोड़ा था। वे खादीके आदि कार्यकर्त्ताओं में से थे। चौमूं का उनका खादी कार्यालय शायद देश में पहला उत्पत्ति केन्द्र था। आगे चलकर इनके साथ भी शोभालालजी जैसी आत्मीयता होगई। व्यक्तियों से परिचय करने और किसी

नये काम को खड़ा करने की इनमें गज़ब की शक्ति है। अपने से बड़े को हर हालत में आदर के साथ निभाने का इनमें अद्वितीय गुण है। साथियों के लिये ये खर्च भी खुले हाथों करते हैं। छोटा भाई दुर्गाप्रसाद भी काम धंधा छोड़कर राष्ट्रीय क्षेत्र में उतर आया। शुरू से ही खरा, साहसी और सिपाहियाना प्रकृतिवाला होने के कारण शीघ्र ही आगे आगया और स्वयं सेवकों का 'कप्तान' बन गया। तब से कांग्रेसी हल्क़ों में इसी नाम से पुकारा जाता है।

इस आंदोलन में नमक बनाने, शराब और विदेशी कपड़े की दूकानों पर पहरा देने और बड़ी बड़ी सभाओं व जलूसों द्वारा प्रदर्शन करने का कार्यक्रम मुख्य था। इसमें अजमेर—मेरवाड़ा ने अच्छा भाग लिया। ब्यावर ने अजमेर से अधिक जोश दिखाया। अजमेर में भी रामगंज, जोन्सगंज, नगरा वग़ैरः की बाहरी बस्तियों और पसीटी के नौजवानों ने खास उत्साह बताया। विलायती कपड़े का पिकेटिंग विशेष रूप से ज़ोरदार हुआ। हिन्दू व्यापारियों ने तो अपने विदेशी माल पर कांग्रेस की मुहर जल्दी ही लगवाली। कुछ मुसलमान सौदागरों ने दुराग्रह किया और शुरू शुरू में स्वयंसेवकों पर उनके हाथों मार भी पड़ी। मगर इनकी दृढ़ सहनशीलता ने अन्त में सब के दिल पिघला दिये और विदेशी कपड़ा सभी दुकानों पर बिकना बन्द हो गया। इस काम में श्री० प्यारचन्द विष्णोई एक आदर्श सैनिक और श्री० दाते एक स्फूर्तिदायक नायक सिद्ध हुए।

विद्यार्थियों ने भी प्रदर्शन-काल में इस आन्दोलन को बल पहुंचाया। स्थानीय स्कूल कॉलेजों में हड़तालें हुईं, व्यापारियों ने हड़तालों के अतिरिक्त सत्याग्रही स्वयंसेवकों के लिये आवश्यक खाद्यसामग्री और धन से भी सहायता दी। श्री० धर्मेन्द्र शिवहरे की देखरेख में ऐसे १५० सैनिकों की एक छावनी खुली। आन्दोलन ने एक समय तो इतना जोर पकड़ा कि एक ही दिन में ३०० से अधिक गिरफ्तारियां हुईं और विदेशी वस्त्र धारण करनेवाली देव मूर्तियों के दर्शन पर धरना दिया गया। बच्चों की 'वानर सेना' और उनके जुलूस व प्रभात फेरियां भी इस युद्ध की विशेषताओं में से थीं।

जेल जीवन का अनुभव तो पहले ही एक से अधिक बार हो चुका था। इस बार एक समूह के साथ रहने का काम पड़ा। छोटे बड़े बहुत से कार्यकर्त्ता एक ही जगह दिन रात खाते पीते उठते बैठते थे। विशेष वर्ग का बर्ताव था। काम तो खाना बनाने आदि का अपने आप सम्मिलित रसोई के रूप में करते थे, परन्तु सुविधाएं काफ़ी थीं। बाहर से भी सामान मंगाने की छुट थी। श्रमपूर्ण खेलों का तो प्रबन्ध नहीं था, परन्तु लोग व्यायाम काफ़ी कर लेते थे। अपने अपने ढंग से पूजापाठ और अध्ययन भी करते थे। पढ़ने लिखने की सुविधा थी। बाहर से पुस्तकें मंगा सकते थे। अख़बार नहीं मिलते थे। सुपरण्डण्ट एक अंग्रेज थे। इस पद पर डाक्टर लोग होते हैं, सप्ताह में दो बार कुछ घण्टों के लिये आते हैं और चक्कर काट-

कर अपना भत्ता पका लेते हैं। उन्हें न इतनी फुर्सत होती है और न इतनी दिलचस्पी कि सब बातों को ध्यान से देखें और अपनी बुद्धि से काम लें। फलतः उन्हें जेलर पर निर्भर रहना पड़ता है। जेलर कुं० फहतसिंह एक मजेदार आदमी थे। उनमें राजपूती अहंकार, पुलिस की हथकण्डे बाज़ी और राष्ट्रीय भावना का सम्मिश्रण था। उनसे राजनैतिक क़ैदियों का मेल भी हुआ और बिगाड़ भी। मेल के समय गायन वादन के साथ तिलक जयंती मनाई गई, जेलर के घर दावत हुई और जेल के बाहर बगीचे में सैर भी कराई गई, बिगाड़ के दिनों में हम पर हमला हुआ और डंडा बेड़ियां पहनाकर काल कोठरियों की सजा दी गई। झगड़ा इस बात पर हुआ कि जेलर साहब चाहते थे कि सुपरडण्ट साहब आवें तब देशभक्तों को खड़े होकर उनकी ताज़ीम करनी चाहिये। हम स्वेच्छा से यह शिष्टाचार करने को तैयार थे और करते भी थे, मगर जबर्दस्ती के आगे झुकने को राज़ी नहीं थे। देशभक्तों में आपस में भी बीच बीच में छोटी मोटी भिड़न्त हो जाया करती थी। जेल की प्रवृत्तियों में दो हस्त-लिखित पत्रों का निकलना उल्लेखनीय है। अंग्रेजी साप्ताहिक "The Man" का सम्पादन मैं करता था और हिन्दी साप्ताहिक 'बन्दी राजस्थान' का श्री० वैजनाथजी महोदय। पथिकजी ने राजबन्दियों पर एक विनोदात्मक कविता लिखी थी जो खूब पसन्द की गई। इसी तरह विशेष व्यक्तियों की हंसी का वर्णन भी बड़ा मनोरंजक था। 'तिकड़म' शब्द का आविष्कार

भी इसी आन्दोलन में हुआ। इस मंत्र के बल से देश भक्तों के जेल में बहुत से काम निकलते थे। वहीं वीरेन्द्र नामक स्वयंसेवक से परिचय हुआ जो आगे चलकर और भी घनिष्ट हो गया। उस में व्यवस्थितता, सफाई, सेवा परायणता, स्वाभिमानी वृत्ति और भावुकता खूब थी।

नवम्बर १९३० में गांधी अरविन समझौते के मातहत हम लोग जेल से छूटे। कुछ दिन तो सभाओं, जुलूसों और भोजों की थोड़ी चहल पहल रही। बाद में विचारों के भेद जाहिर होने लगे। जो विषमताएं दलबन्दी की एकता, आन्दोलन की एकाग्रता, और कारावास की सीमा के कारण दो साल से दबी हुई थीं वे अब कार्यरूप में प्रगट हुईं। उपाध्यायजी और बाबाजी एक दूसरे से अलग हो गये। बाबाजी ने गांधी सेवा संघ से त्याग पत्र दे दिया और पथिकजी से मिल कर एक उग्रदल बना लिया। श्री० जमनालालजी के अनुरोध पर मैं संघ का सदस्य बन गया। विचारों की अनुकूलता तो थी, परन्तु मैं देशी राज्यों की प्रजा की सेवा का व्रतधारी था और इसके लिये संघ के कार्यक्रम में गुञ्जायश नहीं थी। सेठजी ने अध्यक्ष के नाते मेरे लिए विशेष तौर पर यह गुंजायश करदी। सिद्धान्त रूप से पूरी तरह सहमत न होने के कारण शोभालालजी अलग रहे, मगर हमारा आत्म संबंध पूर्ववत क़ायम रहा। चन्द्रभानुजी संघ में आगये और हटूंडी आश्रम के व्यवस्थापक होकर हम सब के साथ वहीं रहने लगे। दुर्गाप्रसाद भी वहीं हिन्दु-

स्तानी सेवा दल की देख रेख में कार्यकर्ताओं के ट्रेनिंग कैम्प में काम करने लगा। यहीं सेवादास नामक एक साधु-स्वभाव स्वयंसेवक का परिचय हुआ।

इस वक्त तक जिले के गाँवों की तरफ़ कांग्रेस कार्यकर्ताओं का ध्यान नहीं गया था। मेरे प्रस्ताव पर हटूंडी आश्रम से एक टुकड़ी भेजना तय हुआ। इसके नायक रामसिंह भाटी बनाये गये। इन्होंने 'सत्याग्रह की बिगुल' नामक एक पुस्तिका लिखी जिसमें कांग्रेस के ध्येय और कार्यक्रम से देहातियों की भलाई का सम्बंध बताकर इन्हें कांग्रेस में शरीक होने के लिये निमंत्रण दिया गया था। आगे चलकर प्रांतीय सरकार ने भी उसे जब्त करके उसका उपयोग सिद्ध कर दिया। यह दल अजमेर मेरवाड़े के गांवों में प्रचार करने और उपयोगी सामग्री जुटाने में सफल रहा।

श्री० ओंकारनाथजी बाकलीवाल से हटूंडी आश्रम में ही परिचय बढ़ा। वे हमारी राष्ट्रीय पाठशाला के संचालक थे। प्रांत के सबसे पुराने गांधीवादी होने के साथ ही वे पच्चीस वर्ष से ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करते आ रहे हैं। ज्योतिष भी जानते हैं। असहयोग काल में सरकारी नौकरी छोड़ने वाले अजमेर में शायद यह अकेले ही थे।

श्री० रामनाथ 'सुमन' आश्रम के एक प्रमुख व्यक्ति थे। उनकी एक लेखक और ग्रन्थकार की प्रतिभा के दर्शन यहीं हुए। बड़े व्यवस्थित और सफ़ाई पसन्द आदमी मालूम हुए।

उपाध्यायजी और महोदयजी वगैरह तो कांग्रेस के काम में लग गये। शीघ्र ही पुष्कर में प्रान्तीय राजनैतिक परिषद हुई। उसमें पू० कस्तूरबा गांधी अध्यक्षा और काका साहब कालेलकर उनके सलाहकार बन कर आये।

मेरा कार्यक्षेत्र तो देशी राज्य ही थे। मेरा मन पिछले झगड़ों से ऊबा हुआ और जेल के ताजा अनुभवों से खिन्न था। मैंने इस संधिकाल का उपयोग अजमेर में खादी फेरी का कार्यक्रम गठित करने में किया। आठ दस दिन के निरंतर परिश्रम और साथियों के सहयोग से इस बार जितनी खादी बिकी उतनी फेरी में और कभी नहीं बिकी। मेरा सदा से यह खयाल रहा है कि देश सेवकों को सरकारी कर्मचारियों से अच्छे सम्बंध और व्यक्तिगत सम्पर्क रखने की कोशिश करनी चाहिये। इससे अनेक छोटी मोटी कठिनाइयां आसानी से हल होजाती हैं और उनकी परिस्थिति के अनुसार देश सेवा में मदद भी मिलती है। अलबत्ता कार्यकर्त्ताओं को उनकी परवशता का लिहाज और उनसे व्यक्तिगत लाभ उठाने के लोभ से परहेज रखना चाहिये। उनसे परिचय और सहायता प्राप्त करने के लिये रचनात्मक प्रवृत्तियां आदर्श साधन हैं। इस बार की खादी फेरी ने मेरी यह धारणा मजबूत करदी। इस सिलसिले में मैं अनेक युरोपियन और भारतीय कर्मचारियों से मिला। ऐसा लगा कि वे खुद भी कांग्रेसियों से किसी न किसी निमित्त के सहारे मिलने और उनसे राजनैतिक चर्चा करने के लिये उत्सुक

रहते हैं। तीन मुलाक़ातें उल्लेखनीय हैं। पहली रेल्वे कारखाने के उच्चाधिकारी कोटस्वर्थ साहब से हुई और दूसरी मेयो कालेजके प्रिंसीपल स्टो साहब से। दोनों ने खादी खरीदी और बातों बातों में पूछा, "अंग्रेज चले जायंगे, तो हिन्दू मुसलमानों में अमन कैसे रहेगा?" मैंने उत्तर दिया, "आप लोगों के आने से पहले भी हम किसी तरह जिन्दा थे ही। जिन देशों में वृटिश राज नहीं है, वहां भी लोग सुख शान्ति से रहते हैं। और अगर जर्मनी इंगलैण्ड पर क़ब्जा करके कहने लगे कि उसकी सत्ता उठ जाने से रोमन कैथॉलिक और प्रोटेस्टेण्ट या स्कॉ- और अंग्रेज आपस में लड़ मरेंगे तो अंग्रेज अपना घर जर्मनों के हाथ में रहने देंगे? आखिर देश हमारा है, उसकी इतनी फ़िक्र आप क्यों करते हैं? अपने घर की चिन्ता हमें ही कर लेने दीजिये।" इसका जवाब भी क्या हो सकता था? दूसरी घटना इससे ठोस थी। बात यह हुई थी कि कुछ स्वयं सेवक तिरंगा झण्डा लिये हुए मेयो कालेज के हाते से गुज़र रहे थे। इस चार दीवारी को अंग्रेजों ने एक अन्तःपुर की तरह अपने और अपनों के लिए सुरक्षित कर रखा था। कांग्रेसी पताका को देख कर कालेज के वाइस-प्रिंसिपल कर्नल हाडसन उसी तरह विगड़े जैसे लाल कपड़े से सांड बिदकता है। उन्होंने झण्डा छीन कर फाड़ डाला और स्वयं सेवकों को थाने में भिजवा दिया! कांग्रेसी हल्कों में इस पर बड़ा रोष फैला। प्रान्तीय कार्यकारिणी इस अपमान का परिमार्जन कराने के लिये चिन्तित हुई, मगर कोई उपाय नहीं

घूम रहा था। मुझे इस क़िस्से की उड़ती उड़ाती ख़बर लग गई थी। स्टो साहब और हाडसन साहब दोनों से कहा, "हमारे राष्ट्रीय झण्डे का अपमान करके आपने अच्छा नहीं किया। आप इस देश का नमक खाते हैं। जिस पताका को करोड़ों भारतीय पूजते हैं उसकी बेइज़्ज़ती करना आप जैसी सैनिक क़ौम को वैसे भी शोभा नहीं देता। अगर आपके कुछ टॉमी (गोरे सिपाही) यूनियन जैक (अंग्रेज़ी झण्डा) लेकर कांग्रेस के मैदान में से गुज़रें और कांग्रेसी लोग उसे छीन कर फाड़ दें और टॉमियों की मरम्मत कर दें तो आपको कैसा लगे? मेरी राय में शराफ़त का तक़ाज़ा है कि आप क्षमा याचना करें।" दोनों की तरफ़ से प्रान्त की कांग्रेस के प्रधान के नाम लिखित माफ़ीनामा पहुंच गया। अंग्रेज़ स्वाभिमान की इस तरह क़द्र करते हैं!

पुष्कर की परिषद् हुई ही थी कि बिजौलिया में फिर सत्याग्रह छिड़ गया। पथिकजी से दस्तबरदारी लेकर हरिभाऊजी ने उसकी बागडोर संभाली। सर सुखदेवप्रसाद मेवाड़ के प्रधान मन्त्री थे। ठिकाने के साथ रियासत की शक्ति ने मिलकर किसानों का दमन आरंभ किया। माणिक्यलालजी पकड़े गये। हरिभाऊजी एक आपरेशन के लिये बम्बई चले गये और घटना स्थल पर न पहुंच सके। हां, कुछ स्वयंसेवक अजमेर से बिजौलिया ज़रूर गये। उनके साथ ठिकाने की पुलिस ने बड़ा ज़लील व्यवहार किया। सेठ जमनालालजी ने बीच में पड़कर अपने

प्रभाव से प्रजा पक्ष की रक्षा करने की कोशिश की लेकिन जब इस समझौते की शर्तें किसानों को समझाने के लिये शोभालालजी सेठजी के प्रतिनिधि बन कर पहुँचे तो एक उजड्ड कोतवाल ने उन्हें जूतों से पिटवाकर सामन्तशाही के जंगलीपन का परिचय दिया। बात महामना मालवीयजी तक पहुँची तो सर सुखदेव गालियों पर उतर आये और हरिभाऊजी को 'शैतान' (evil genius) शब्द से याद करके अपने दिल की जलन निकाली। सत्ताधारियों का स्वभाव है कि विरोधी बनते ही 'शरीफ' उनकी नजर में 'नीच' हो जाते हैं। आखिर दस बारह बरस की दाद फ़रियाद के बाद किसानों को अपनी जमीनें वापस मिलीं। मगर उपाध्यायजी को रियासत से जो निकाला गया तो सन् ४६ तक वह आज्ञा रद्द नहीं हुई। हां, उन्हें साहित्य सम्मेलन के अवसर पर उदयपुर जाने की शर्तबंद इजाज़त बीच में मिल गई थी।

सन् १६३२ में जब दुबारा सत्याग्रह छिड़ा तो और नेता जल्दी ही गिरफ्तार हो गये, मगर सेठ जमनालालजी मुक्त थे। वे बड़े संगठन कर्ता और देशव्यापी प्रभाव रखने वाले व्यक्ति थे। मेरी इच्छा युद्ध में भाग न लेकर अपने पुराने निश्चय के अनुसार देशी राज्यों की सेवा करने की ही थी। सेठजी ने राय दी कि खादी कार्य द्वारा यह सेवा उत्तम हो सकेगी। अतः फ़ैसला हुआ कि महाराष्ट्र चर्खा संघ में कुछ समय काम करके आवश्यक अनुभव प्राप्त कर लूं। परन्तु इससे पहले सेठजी ने

मुझे एक विशिष्ट काम सौंप दिया। वह यह कि अ० भा० काँग्रेस के डिक्टेटरों की एक नामावली तैयार करली जाय ताकि एक के बाद दूसरा शृंखला-बद्ध रूप में मैदान में आता चला जाय। इसके लिये मुझे देश भर का दौरा करना था। मैं बंगाल, बिहार, यू० पी० और पंजाब में घूम भी आया। लौटा तब तक सेठजी जेल में पहुंच चुके थे। मैं महाराष्ट्र चर्खा संघ में काम सीखने लगा। इसकी प्रगति देख कर सानंद आश्चर्य हुआ। इस सफलता का श्रेय सर्व श्री० जाजूजी, राधाकृष्ण बजाज, कृष्णदास गांधी और द्वारकानाथ लेले को मुख्यतः देना पड़ेगा। कृष्णदास भाई की एक निष्ठा और महाराष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की परिश्रमशीलता व मितव्ययिता अनुकरणीय मालूम हुई। इसी सिलसिले में मुझे निज़ाम राज्य के एक उत्पत्ति केन्द्र में रहने का मौक़ा मिला। रियासत की साम्प्रदायिक नीति और आतंकपूर्ण व्यवस्था के प्रत्यक्ष परिणाम देखे। मेटपल्ली के इस प्रवास में ही यह विश्वास स्थिर और असंदिग्ध हुआ कि भारत के दरिद्र-नारायण के लिये खादी एक वरदान है। लौटते वक़्त हैदराबाद में श्री० रामकृष्णजी धूत से परिचय हुआ। वे एक होनहार सुधारक और सेवक प्रतीत हुए।

वर्धा पहुंचा तो गांधी सेवा संघ की मारफ़त यह तजवीज़ आई कि कांग्रेस महासमिति के मंत्री के रिक्त स्थान की पूर्ति करूं। इस आन्दोलन में गुप्तता का दौर दौरा था। महासमिति का दफ्तर भी छिपकर काम करता था। मुझे रचना-

त्मक कार्य की धुन ने इस प्रलोभन से तो परे रखा, लेकिन राज-स्थान की पुकार के आगे मेरी यह तटस्थता नहीं टिकी और मैं अजमेर पहुंच गया। हटूंडी आश्रम जब्त हो गया था। हमारे बाल बच्चे जयपुर में एक जगह रहते थे। मैंने एक दो साथियों सहित रामगंज में डेरा लगाया। वहां मधुकरी जीवन का अच्छा आनंद रहा। इस आन्दोलन में राजस्थान ने १६३० से भी शानदार भाग लिया। प्रांत के कौने कौने से कार्यकर्ता शरीक हुए। कोई चार सौ सत्याग्रही जेल में पहुंचे। स्त्रियों की संख्या तो यहां दूसरे किसी भी प्रांत से अधिक रही। मुझे यह स्मरण करते हुए गर्व होता है कि सभी निकटस्थ साथियों और उनके परिवारों ने भाग लिया। भाई शोभालालजी और उनकी वीर पत्नी विजया बहन, अंजना देवी, दुर्गाप्रसाद और विमला देवी, चन्द्रभानुजी और दुर्गा बहन, हरिभाऊजी और भागीरथी बहन, बैजनाथजी महोदय और तुलसी बहन, पं० लादूरामजी और रमा बहन, नीमच के चनीरामजी भगर और उनकी पत्नी, कृष्णगोपालजी गर्ग की पत्नी शकुन्तला बहन, सुमनजी की पत्नी सीता बहन, कृष्णा देवी, इन्दौर की रुक्मणी बहन और दूसरी कई वीरांगनाओं ने इस राष्ट्रीय युद्ध में शरीक होकर प्रान्त का गौरव बढ़ाया, जिन बहनों को 'ए' क्लास में रखा गया उनमें से अधिकांश ने अपनी 'सी' क्लास की साथिनियों की खातिर उच्चवर्ग की सुवि-धाओं को अस्वीकार कर दिया और काली दाल रोटी खाना पसंद किया। उन्होंने यहां भी साबित कर दिया कि त्याग में

स्त्री पुरुष से आगे रहती हैं। जेल में पुरुष सत्याग्रहियों के साथ इस बार खास तौर पर सख्ती की गई। जिन प्रमुख और उच्च शिक्षित कार्यकर्ताओं को सन् १६३० में विशेष वर्ग में रखा गया था उनमें से अधिकांश को 'सी' क्लास दिया गया। काम भी चक्की पीसने, पानी भरने और दूसरे कठोर परिश्रम के दिये गये। एक दिन कुछ तरुण सत्याग्रहियों को श्री० जवाहर लाल रावत की अदालत से मिली सजा पर बेत लगा दिये गये। इस पर राजनैतिक और साधारण क़ैदियों तक ने मिलकर रात भर नारे लगाये। फिर तो देशभक्तों को काफी कष्ट दिये गये मगर आयंदा किसी सत्याग्रही को अदालत से बेत की सजा नहीं दी गई। सन् १६३२ से १६३४ के इस आन्दोलन ने अजमेर को एक नया कार्यकर्ता दिया। ये थे श्री० विश्वम्भरनाथ भार्गव। जिले के ये दूसरे वकील थे जिन्होंने सारा या अधिकांश समय लगाकर कांग्रेस का काम किया। इन्होंने तीन बार जेल यात्रा की। एक हानि भी हुई। सस्ता साहित्य मण्डल से राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को काम और सार्वजनिक जीवन को बल मिलता था। प्रान्तीय सरकार की उस पर कड़ी नजर रहने लगी। उसके कुछ प्रकाशन वर्जित करार दिये गये और एक बार तलाशी भी हुई। बिड़लाजी मण्डल को राजनीति से अलग रखना चाहते थे। इन घटनाओं के कारण उन्होंने मण्डल को अजमेर से उठवा कर अपनी सीधी देख रेख में दिल्ली मंगवा लिया।

आठवां अध्याय

हरिजन सेवक संघ

गांधी युग आरम्भ होने के साथ ही कांग्रेस के कार्यक्रम में अस्पृश्यता निवारण एक अविभाज्य अंग बन गया था। सुधारक आन्दोलनों और संस्थाओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दुओं के प्रगतिशील हल्कों में अछूतपन बुरी चीज माना जाने लगा था। मगर साधारण हिन्दू समाज के शरीर में यह रोग अभी तक गहरा पैठा हुआ था। इधर रैमूजे मैकडोनाल्ड की सरकार ने मुसलमानों की तरह अछूतों का भी एक अलग वर्ग क़ायम करके राष्ट्र को दो से बढ़ाकर तीन टुकड़ों में बांट देने का निर्णय किया। गांधीजी गोल—मेज परिषद् में ही यह चेतावनी दे चुके थे कि ऐसी कोई योजना अमल में आई तो इसके विरोध में मैं अपनी जान लड़ा दूंगा। सन् १९३२ में जब बृटिश हुकूमत का साम्प्रदायिक निर्णय प्रकाशित हुआ और अछूत जातियों के लिये पृथक निर्वाचन की पद्धति क़ायम करदी गई तो गाँधीजी ने यरवदा मंदिर से ही घोषणा करदी कि यदि हिन्दू नेताओं ने हिन्दू धर्म के शिर से अस्पृश्यता का पाप धो डालने और विदेशी सरकार ने हिन्दू जाति के टुकड़े

करने वाले निर्णय को बदल देने का आश्वासन नहीं दिया तो वह आमरण अनशन करेंगे। यह व्रत शुरू भी होगया। देश में एक सिरेसे दूसरे सिरे तक हाहाकार मच गया। असंख्य नर नारियोंने हड़ताल, उपवास, सभाओं और जुलूसों द्वारा अपने अवतार स्वरूप महापुरुष के प्रति सहानुभूति और श्रद्धा प्रगट की और यह सिद्ध कर दिया कि भले ही लाखों मनुष्य पुराने विचारों के कारण गांधीजी से किसी प्रश्न पर सहमत न हों फिर भी वे उन्हें भारत की दिव्यतम विभूति, महान से महान हस्ती और हिन्दुत्व के प्राण समझते हैं और उन्हें किसी तरह भी खोना सहन नहीं करेंगे। फल यह हुआ कि हिन्दू नेताओं और ब्रिटिश सत्ताधारियों को गांधीजी की मांग स्वीकार करनी पड़ी और उनका उपवास नाज़ुक स्थिति में पहुंच कर समाप्त हुआ। देश में आनन्द और उत्साह की लहर फैल गई। गांधीजी ने भी इस परिस्थिति का पूरा सदुपयोग किया। एक तरफ अछूत-पन के खिलाफ प्रचार करने और दलित जातियों के उत्थान के लिये सतत् कार्य करने वाली एक अखिल भारतीय संस्था की स्थापना की गई। दूसरी ओर उन्होंने जेल में बैठ कर इस उद्देश्य की सफलता के लिये उद्योग करने की सरकार से सुविधायें प्राप्त कीं। एक क़ैदी को इस तरह की स्वतंत्रता मिलना ब्रिटिश साम्राज्य और शायद संसार के किसी भी राज्य के इतिहास में अभूत पूर्व घटना थी। यह सत्याग्रह का ही चमत्कार था। लेकिन गांधीजी को अराजनैतिक मुलाक़ातें, प्रकाशन और पत्र-व्यवहार करने की जो ग़ैर मामूली आज़ादी मिली उसका प्रयोग

भी उन्होंने इस तरह किया जिससे विरोधियों को भी कोई शंका या शिकायत न हो।

हरिजन सेवक संघ स्थापित हुआ। उसका एक प्रभावशाली संचालक मंडल बना। अध्यक्ष सेठ घनश्यामदास बिड़ला, प्रधान मन्त्री श्री० अमृतलाल ठक्कर और सहायक मन्त्री प्रोफ़ेसर नारायणदास मलकानी हुये। बिड़लाजी की अतुल सम्पत्ति, विशुद्ध खानगी जीवन, प्रखर और विधायक बुद्धि, ठक्कर बापा की दीर्घकालीन भील सेवा, त्यागमय ज़िन्दगी और पीड़ितों के साथ अगाध सहानुभूति तथा मलकानी जी की विद्वत्ता और क़ुर्बानियां देखते हुये इससे अच्छा चुनाव नहीं हो सकता था। अनुभवने भी इस निर्वाचन की उत्तमता बाद में सिद्ध कर दी। बापा के कठोर अनुशासन, असाधारण परिश्रम शीलता और स्निग्ध खानगी व्यवहार ने अनेक काम के आदमियों को भक्त बना दिया। संघ का प्रधान कार्यालय दिल्ली में क़ायम हुआ। वहाँ से हिन्दी में 'हरिजन सेवक', पूना से अंग्रेज़ी 'हरिजन' और बम्बई से गुजराती 'हरिजन बन्धु' इस संघ के तीन साप्ताहिक मुखपत्र निकलने शुरू हुए। उनके सम्पादक क्रमशः सर्व श्री० वियोगी हरि, महादेव भाई देसाई और चन्द्रशंकर पंड्या हुए। मार्गदर्शन तो संघ की तरह इन पत्रों के लिए भी गांधी जी का ही रहा।

केन्द्रीय व्यवस्था ठीक कर ठक्कर बापा प्रान्तीय शाखाओं का संगठन करने निकल पड़े। संघ की रचना इस तरह की थी

कि केन्द्रीय संघ का अध्यक्ष अपने संचालक मण्डल के सदस्यों और प्रान्तीय अध्यक्षों को मनोनीत करता था और प्रांतीय अध्यक्ष अपने मण्डल के सदस्यों और प्रान्तीय मंत्री को नियुक्त करता था। प्रान्तीय मन्त्री सारा समय लगा कर काम करने वाले होते थे। एक तरह से यही इस विशाल संगठन के प्राण थे। संघ के वैतनिक कार्यकर्त्ताओं के लिये सत्याग्रह से अलग रहना जरूरी था। यह सावधानी इसलिये भी जरूरी थी कि उस वक्त सत्याग्रह जारी था और उसमें भाग लेकर हरिजनसेवा यथेष्ट रूप में कर सकना बहुत कठिन था। गुजरात का संगठन करके बापा अजमेर आये। श्री० हरविलासजी शारदा को बिड़लाजीने राजपूताना शाखा का अध्यक्ष नामजद किया। मन्त्री पद के लिये मेरी तजवीज हुई। मैं गांधी सेवा संघ का सदस्य था। उसके अध्यक्ष सेठ जमनालालजी जेल में थे। वे मुझ से राजपूताने के खादी-कार्य का संचालन कराना चाहते थे। उसके लिये तालीम भी ली जा चुकी थी। मैं धर्म संकट में पड़ा। लेकिन बापा और बिड़लाजी ने जमना-लालजी की मंजूरी दिलाने का जिम्मा लिया। मैं उनके आग्रह के आगे झुक गया और इस नये भार को स्वीकार कर लिया। राजनीति और राजनैतिक आन्दोलन काफी देख चुका था। उसके झगड़े टंटों से अरुचि हो चुकी थी। साहसी तबियत आत्म विश्वास के साथ इस नवीन क्षेत्र में आगे बढ़ी क्योंकि प्यारे राजस्थान के निम्नतम और दलित वर्गों की प्रत्यक्ष सेवा का अवसर मिल रहा था।

लेकिन हमारे नेता राजपूताने के काम के विषय में बहुत आशावादी नहीं थे। उनकी आशंका निराधार भी नहीं थी। यह प्रान्त राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक कट्टरता का गढ़ ठहरा। जात्याभिमान नंगा नाच करता था। जीवन के हर क्षेत्र में ऊँच नीच की भावना का बोलबाला था। शासन सत्ताएँ निरंकुश थीं। वह प्रजा में जीवन और बल पैदा करने वाली हर योजना को संदेह की नजर से देखती थीं। सत्याग्रह आंदोलन जारी था। उसके कारण सरकारी हल्कों में काफ़ी चौकन्नेपन का वातावरण था। अंग्रेज भी हमारे राजाओं को बराबर पट्टी पढ़ा रहे थे कि कांग्रेस वाले हरिजन सेवा की आड़ में राजनैतिक बदअमनी फैलाना चाहते हैं, उनसे खबरदार रहना चाहिये। मेरी ख्याति प्रांत में एक प्रमुख राजनैतिक पुरुष की थी। इधर सेवा कार्यों से सहानुभूति रखने वाले धनिक और शिक्षित वर्गों में अजमेर आपसी लड़ाई झगड़ों के लिये बदनाम था। इन सब कारणों से परिस्थिति काफ़ी प्रतिकूल थी। यही वजह थी कि जब मैंने प्रान्तीय संघ के बजट में ११ स्थानीय शाखाओं की गुंजायश रक्खी तो हमारे दिल्ली के मुख्य दफ़्तर में कुछ आश्चर्य और परिहास हुए बिना नहीं रहा।

इसलिये मुझे भी क़दम फूंक फूंक कर चलना पड़ा। सन् १६२६ में गांधीजी ने 'राजा प्रजा सेवक समिति' नामक जिस प्रस्तावित संस्था का विधान तैयार किया था उसमें देशी राज्यों के लिये नम्रता, कुशलता और सचाई त्रिविध कार्यनीति स्थिर

की थी। मैंने उसी के प्रकाश में काम करना शुरू किया। प्रांतीय संघ के विधान में केन्द्रीय संघ से एक क़दम आगे बढ़कर यह नियम बनाया गया कि उसके वैतनिक कार्यकर्ता सत्याग्रह में ही नहीं, राजनीति मात्र में भाग न लें। बूंदी, मेवाड़ और जयपुर के सिवाय जहां मेरा दाख़िला बन्द था मैंने राजपूताने की प्रायः सभी रियासतों का दौरा किया। जिन इलाक़ों में सार्वजनिक प्रवृत्तियों का अभाव था उन पर ख़ास ध्यान दिया गया। मैं जहां जाता वहां के दीवान और पुलिस सुपरिन्टैंडैन्ट को अपने आने की पहले सूचना देता। उसी में यह आश्वासन भी दे देता कि संघ अधिकारियों की सहानुभूति के साथ ही काम करना चाहता है, जिन प्रवृत्तियों पर राज्य को आपत्ति होगी वे वहां शुरू नहीं की जायंगी और अगर उन्हें मेरा आना नापसंद होगा तो मैं नहीं आऊंगा। मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि एक के सिवा और किसी रियासत ने मेरे आने पर आपत्ति नहीं की। वह घटना भी दिलचस्त थी। मैं बांसवाड़ा जाने के लिये रतलाम से लारी में सवार हो ही रहा था कि बासवाड़ा दीवान साहब का एक तार मुझे दिखाया गया। उन्होंने मुझे सीधा जवाब न देकर अपने रतलाम के एजेंट द्वारा यह सूचना दी कि मैं बांसवाड़ा न जाऊं। मैं तुरन्त लौट पड़ा और उत्तर भेज दिया कि 'आपकी सूचना के लिये तो धन्यवाद, लेकिन अगर वह अजमेर में मिल जाती तो थोड़े सार्वजनिक समय और धन की बचत हो जाती।'

संयोगवश थोड़े ही दिन बाद जब मैं डूंगरपुर के सरकारी अतिथि भवन में ठहरा हुआ था तो वहीं बांसवाड़ा के दीवान साहब भी किसी काम से आपहुँचे। बातचीत हुई और उनका समाधान होगया। तीसरे ही दिन बांसवाड़ा से उनका बुलावा आगया! मैं जिस रियासत में पहुंचता सबसे पहले दीवान और पुलिस एवं दूसरे महकमों के उच्चाधिकारियों से मिलकर उनका शंका समाधान करता। अपनी तरफ से तो राजा से भी भेंट करने का प्रस्ताव करता लेकिन इसमें दो से अधिक जगह सफलता नहीं मिली। अधिकांश राजाओं को मिलने में भारत सरकार के पोलिटिकल विभाग का डर ही मुख्यतः बाधक था। दीवानों में प्रतापगढ़ के शाह साहब ने, मुझे याद है, इस सत्य को स्पष्ट स्वीकार किया कि हरिजन सेवक संघ वही कार्य कर रहा है जो राज्य को करना चाहिये, लेकिन चूंकि मौजूदा अवस्था में सरकारी प्रयत्नों पर प्रजा का विश्वास नहीं है इसलिये गैर सरकारी संस्थाओं के काम में ही राज्य को अधिक से अधिक मदद देनी चाहिये। शाह साहब ने मदद दी भी। इसी तरह दूसरे कई राज्यों ने भी सहानुभूति दिखाई और सहायता दी। किसी भी राज्य ने बाधा दी हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। सहायता डूंगरपुर राज्य की ओर से सबसे अधिक मिली और काम सबसे आगे बढ़ कर झालावाड़ के महाराव साहब ने किया। मैं जहां जाता वहां के सनातनी नेताओं से भी मिल कर उनका समाधान करने की कोशिश

करता। सुधारकों और हरिजनों से तो काम था ही। हर जगह दो चार हरिजन सेवक और एक-आध कार्यकर्त्ता भी मिल जाता। इस प्रकार गाँधीजी के पुण्य प्रताप से अच्छी सफलता मिली। राजस्थान के हरिजनों के दिन अच्छे थे। केन्द्रीय मंडल का रुख उदार था। काम बढ़ता चला गया।

इन्हीं दिनों अजमेर के सामाजिक इतिहास में एक अभूत-पूर्व घटना हुई। किसी विशेष दिवस मनाने के सिलसिले में सवर्णों का एक जुलूस नये बाज़ार की चौपड़ से शुरू हुआ। सभ्य, शिक्षित और उच्च कहाने वाले वर्ग के लोगों के हाथों में झाड़ू और टोकरियाँ शोभायमान थीं। आगे आगे स्व० गौरीशंकरजी बैरिस्टर और पीछे पीछे सैकड़ों लोग हरिजन सेवा के नारे लगाते और गीत गाते चल रहे थे। जब यह क़तार-बद्ध मानव समूह कट्टरपंथी गलियों में होकर गुज़रा तो लोगों के आश्चर्य का पार न रहा और माताएं व बहनें छतों पर विस्मय-पूर्ण दृष्टि से देखने लगीं। हरिजनों के मुहल्ले में पहुंच कर जब बाबू लोग सफ़ाई करने लगे तो वे भी चकित हो गये!

सन १९३४ में गांधीजी ने हरिजन कार्य के लिए देश भर का दौरा किया। मुझे भी इस प्रवास में एक महीने के क़रीब उनके साथ रहने का सौभाग्य मिला। आन्ध्र व तामिलनाड जैसे कट्टर प्रांतों से शुरुआत की गई। चौबीसों घंटे साथ रह कर गांधीजी का दैनिक जीवन और सार्वजनिक प्रवृत्तियां निकट से अध्ययन करने का मौक़ा मिला। अक्सर महापुरुषों के लिये

कहा जाता है कि उनमें दूर से जितना आकर्षण होता है उतना नज़दीक जाने पर नहीं होता। मगर गांधीजी में मैंने उल्टी बात पाई। कई लोगों को भय था कि हिंदू समाज की कट्टरता गांधीजी के इस क्रांतिकारी सामाजिक आन्दोलन को बरदाश्त न कर सकेगी, उनकी लोकप्रियता घट जायगी और उनके राजनैतिक सामर्थ्य को गहरा आघात पहुंचेगा। बृटिश सरकार भी शायद ऐसे परिणामों की आशा में ही उन्हें छोड़ने और अबाधित रूप में काम करने देने को राज़ी हुई थी। लेकिन मैंने आंखों देखा कि जहां कहीं वे गये अपार भीड़ ने उनका स्वागत किया, उनकी हरिजन सेवार्थ फैली हुई दान की झोली भर दी और इक्के-दुक्के लोगों को छोड़ कर सर्व साधारण ने उनके कार्य का समर्थन किया। गांधीजी का उत्कट राष्ट्र-भाषा-प्रेम मैंने इसी दौरे में देखा। जिन प्रान्तों की भाषा हिन्दी नहीं थी वहां भी वे अंग्रेज़ी के बजाय हिन्दु-स्तानी में ही मुख्यतः बोलते थे। विरोधियों के दृष्टिकोण को समझने, सार्वजनिक आवेश से उनकी रक्षा करने, हरिजन मोहल्ले देखने और स्त्रियों तथा कार्यकर्त्ताओं से वार्तालाप करने का मौक़ा वे नहीं चूकते थे। इतने गुंथे हुये कार्यक्रम में भी वे सुख की नींद सोते, प्रायः सब काम समय पर कर लेते और अपना स्वास्थ्य अच्छा रख पाते थे। इतना ग़ज़ब का उनका मनोबल था!

इस प्रवास से लौटकर मैंने राजपूताने के काम को फैलाने

और मजबूत करने का उपक्रम किया। सौभाग्य से चन्द्रभानुजी जैसे मिलनसार प्रचारक व संगठनकर्त्ता, शोभालालजी जैसे ज़िम्मेदार और विवेकशील मन्त्री, रामसिंह भाटी जैसे व्यवस्थापक और अयोध्याप्रसादजी जैसे दफ़्तरी सहायक प्राप्त थे। साल भर में ही प्रांत में हरिजन सेवक समितियों का जाल बिछ गया। पचासों नवयुवक सेवा क्षेत्र में नये आगये और कई ऐसे केन्द्र पैदा हो गये जहां पहले कोई सार्वजनिक कार्य नहीं हुआ था। अपने उत्कर्ष काल में राजपूताना हरिजन सेवक संघ की रात और दिन की पाठशालाओं की संख्या सवासौ तक, छात्र छात्राओं की तादाद तीन हजार के लगभग और शाखा समितियों का नम्बर पचास से ऊपर पहुंच गया था, हजारों हरिजनों ने शराब पीना छोड़ दिया था और मुर्दा मांस न खाने की प्रतिज्ञाएं लेली थीं और अनेक जलाशय उनके लिये बने और बन रहे थे।

इस बढ़ते हुये काम को सुचारु रूप से चलाने, प्रांत की जागृति में उससे यथेष्ट परिणाम निकालने और कार्यकर्त्ताओं में एक हद तक सर्वतोमुखी योग्यता पैदा करने के लिये एक ऐसे केन्द्र की ज़रूरत महसूस हुई जिसमें हरिजन सेवकों को तालीम दी जा सके। सन् १९३४ में अजमेर से ७ मील उत्तर पूर्व नारेली नामक एक छोटे से गांव में सेवा आश्रम खोला गया। प्रांतीय संघ के आधीन जितने शिक्षक और कार्यकर्त्ता थे उनके लिये यहां आकर छः महीने तक रहना अनिवार्य किया गया। उनके लिये यह जरूरी था कि खादी पहनें, कातना सीखें

और शिक्षण और गांधी साहित्य का अध्ययन करें। वे मलमूत्र की सफाई करते, गांव के गंदे मोहल्लों में झाड़ू लगाते, मिट्टी खोदते, भोजन बनाते और अपना सब काम अपने हाथों से करते थे। यह सब वे खुशी से न करते यदि उनमें एक प्रकार की मिशनरी भावना काम नहीं कर रही होती। इसी भावना के कारण सारे आग्रहों और पूर्वग्रहों की उपेक्षा करके वे राजनैतिक हेतुओं और झगड़ों से अलग रहे, छूत अछूत बिना किसी भेदभाव के खान पान और रहन सहन में एक साथ रहे और जलवायु, रुपया-पैसा और कौटुम्बिक व सामाजिक विरोध सम्बंधी कठिनाइयों की परवाह न करके भी अपना कर्त्तव्य पालन करते रहे। हरिजन सेवक संघ के इतिहास में कार्यकर्त्ताओं का पहला ट्रेनिंग कैम्प राजपूताना शाखा ने ही खोला था और उसीने पहले पहल हरिजनों से भी अधिक दरिद्र भीलों की सेवा का आयोजन किया था। नारेलो में कोई सौ कार्यकर्त्ता ट्रेनिंग पाकर निकले। आगे चल कर भी इनमें से अधिकांश लोग हरिजन सेवा, खादी या प्रजामंडल सम्बन्धी किसी न किसी कार्य में लगे रहे। लेकिन राजपूताना हरिजन सेवक संघ को सफलता हरगिज नहीं मिलती अगर उसे कुछ योग्य कार्यकर्त्ताओं की सेवायें प्राप्त न होती। अजमेर के श्री बालकृष्ण गर्ग और करौली के श्री० चिरंजीव शर्मा की विविध विकाशशील शक्तियां, दौसा के श्री० कल्याण शर्मा की ग्रामीण जनता में घुसने की क्षमता, इंदौर के श्री० मदनसिंह तोमर की शिक्षण-

कला, बांसवाड़ा के श्री० गौरीशंकर उपाध्याय की नम्रता, अलवर के श्री० रामावतार की श्रद्धा, भरतपुर के श्री गोकुलजी वर्मा की अखण्ड सेवापरायणता, और अमरसर जयपुर के श्री० गौरीशंकरसिंहजी का हरिजन प्रेम विशेष उल्लेखनीय है। सूरजगढ़ के श्री० मूलचन्द, जयपुर के स्वामी मुनीश्वरानन्द, झालरापाटण के एक मात्र हरिजन ग्रेजुएट मास्टर रामचन्द्रजी और अमरसर जयपुर के बालासहाय, नरसिंहदास आदि हरिजन कार्यकर्त्ताओं ने भी अपनी जाति की सेवा में अच्छा सहयोग दिया। अवैतनिक कार्यकर्त्ताओं में जयपुर में श्री० कपूरचन्द पाटणी, बीकानेर में श्री० मुक्ताप्रसादजी वकील और आर्य समाज के मंत्री श्री० लालसिंह, प्रतापगढ़ में पं० वैजनाथ शर्मा, राजगढ़ (अलवर) में श्री० जमनालाल गुप्त, रामगढ़ (जयपुर) में श्री० महादेव चौधरी, पिलानी में श्री० घनश्याम शर्मा, गंगापुर में पं० सुन्दरलालजी, चिड़ावा में श्रीकृष्ण शर्मा, फतेहपुर में श्री० भीमराजजी दूगड़, चौमू में पं० दुर्गाप्रसादजी शर्मा, रींगस में रामेश्वरजी अग्रवाल, झालावाड़ में पं० रामनिवासजी शर्मा ने अपनी-अपनी शाखाओं का कार्य संचालन अच्छी तरह किया। यह सब इन्हीं लोगों के परिश्रम का नतीजा था कि राजपूताने का काम हरिजन संघ की प्रथम श्रेणी की शाखाओं में शुमार हुआ। इस कार्य में शेखावाटी के धनिकों की उदारता और चर्खा संघ की दिलचस्पी हरिजन संघ से पहले और बाद में भी बराबर काम करती रही।

यदि मैं दो केन्द्रों का वर्णन जरा विस्तार से न करूं तो यह वृत्तान्त अधूरा ही रहेगा। बाबू हुकमीचन्दजी सुराणा मेवाड़ के एक सत्पुरुष हैं जिन्हें सेवा की खातिर काम धन्धा छोड़े अर्सा हो गया। उनकी बुजुर्गी, दानाई और अमनपसंदी ने उन्हें जैन सम्प्रदाय में ही नहीं जो भी उनके सम्पर्क में आये उन्हीं के दिलों में आदर का स्थान दिला दिया था। उन्होंने मांडलगढ़ (मेवाड़) के परगने में श्री० मनोहरसिंह आदि कुछ युवकों को लेकर सेवा संघ नामक एक संस्था खोली। सेवक संघ की सहायता से इस मंडली ने अपने छोटे से दायरे में कई पाठशालाएँ चलाईं और ग्राम सुधार का अच्छा काम किया।

लेकिन यहाँ से कहीं बड़ा और सुन्दर काम बागड़ में हुआ। यह डूँगरपुर और बांसवाड़ा के इलाकों का सम्मिलित नाम है। दरिद्रता, कट्टरता और अधकार की दृष्टि से यह प्रदेश शायद राजपूताने में सबसे नमूनेदार है। ऐसे प्रतिकूल क्षेत्र में जो अद्भुत कार्य हुआ उसका श्रेय मुख्यतः बाबा लक्ष्मणदास जी और पंड्या जोगीलालजी को है। सचमुच बाबाजी ने प्रतिकूल मौसम, बीहड़ भूमि, कमजोर स्वास्थ्य और दूसरी अनेक कठिनाइयों के होते हुये हरिजन कार्य का बीज न बोया होता और पंड्याजी ने अपनी सेवा भावना, कार्यदक्षता और परिश्रमशीलता से उसे न सींचा होता तो हरिजनसेवा का प्रांत भर में जो आदर्श कार्य डूंगरपुर में हुआ वह संभव नहीं था। राजगुरु महंत सरयूदासजी ने एक कट्टर वैष्णव होते हुये

भी हरिजन सेवक समिति का अध्यक्ष पद स्वीकार किया और साहस व लगन के साथ उस पद की ज़ुम्मेदारी को निभाया। इतना ही नहीं उन्होंने अपना मंदिर भी हरिजनों के लिये खोल दिया था। इसी तरह रामसनेही साधु लच्छीरामजी ने भी बांसवाड़ा के हरिजन कार्य में अच्छी आर्थिक और नैतिक सहायता दी। इस काम में डूंगरपुर के महारावल साहब ने दिल खोल कर मदद दी। फलस्वरूप सारी रियासत के हरिजनों ने शराब पीना और मुर्दा मांस खाना छोड़ दिया, उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ और सामाजिक कुरीतियों में काफी कमी हुई। इस सम्बन्ध में श्री० मदनसिंह तोमर और उनकी धर्मपत्नी की सेवाएं प्रशंसनीय रहीं। लेकिन बागड़ प्रदेश में ही नहीं, शायद सारे राजस्थान में जो साधुता, विनम्रता और पद व नाम के प्रति उदासीनता मैंने परतापुर के जगन्नाथजी कंसारा में पाई वह किसी दूसरे सेवक में नहीं देखी। वे कई हरिजन व भील पाठशालाएं, एक पुस्तकालय और वाचनालय और कष्ट निवारण की दूसरी प्रवृत्तियां बराबर चुपचाप और .खूबी के साथ चला रहे हैं। जगन्नाथ भाई को इस काम में अपने शरीक़ अध्यक्ष गढ़ी क श्री० चन्दूलालजी सोनी से अच्छी सहायता मिलती रही।

हरिजन कार्य के सिलसिले में दो दुःखद घटनायें भी उल्लेखनीय हैं। अजमेर में कुछ उग्र विचार के युवक भी हरिजन सेवा में प्रवृत्त हुये। उन पर मैंने विश्वास किया, परन्तु

पता नहीं, विप्लववाद व साम्यवाद के विचारों के किस विपर्यास का भूत उन पर सवार हुआ कि उन्होंने हरिजन सेवक संघ को एक पूंजीपति संस्था समझा, विश्वास से मिली हुई सुविधाओं का दुरुपयोग करके वे रात को दफ्तर में घुस गये और मेज़ का ताला तोड़ कर लगभग ५००) रुपया चुरा ले गये। स्वयं क्रांतिकारियों में रह कर मैंने उनके बारे में काफ़ी जाना और पढ़ा था। उनके शुद्ध जीवन और साहसी कार्यक्रम में ऐसे कायर कृत्य की मुझे कहीं गुंजायश दिखाई नहीं दी थी; इन नक़ली विप्लववादियों ने मेरे दिलपर बड़ी बुरी प्रतिक्रिया पैदा की।

दूसरी अप्रिय घटना यह हुई कि गांधीजी के अजमेर आगमन के समय सनातनियों का एक विरोधी दल यहां भी आ पहुंचा। यह मण्डली स्वामी लालनाथ नाम के एक सन्यासी के नेतृत्व में गांधीजी के साथ साथ घूमती और हरिजन आन्दोलन को धर्म विरुद्ध बता कर उसके खिलाफ़ प्रचार करती थी। दुर्भाग्यवश अनेक सावधानियां रखते हुए भी इनकी रक्षा करने में कुछ असावधानी रह गई और उनके साथ अजमेर में मारपीट हो गई। इस पर गांधीजी को ७ दिन का उपवास करना पड़ा। बाद में मालूम हुआ कि यह काम स्थानीय आर्य समाज के झगड़ों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ युवकों का योजनापूर्वक किया गया काम था।

परन्तु सबसे अधिक कटु अनुभव तो हरिजन कार्य के सिलसिले में हरिजनों की अवस्था का हुआ। पता नहीं मनुष्य किस

तरह इतना विवेकभ्रष्ट और हृदयहीन बन सका होगा और हिन्दुत्व जैसे दया प्रधान धर्म में यह अमानुषिकता क्योंकर घुसी होगी कि इंसान को इंसान हैवान से भी बदतर समझने लगा। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का नित्य पाठ करने वाले लोग अपने ही समाज के एक समूचे अंग को अछूत और अदृश्य तक मानने लगे, उनसे गंदे से गंदा काम लेने लगे, उन्हें कम से कम और खराब से खराब अन्न वस्त्र देने लगे और ऊपर से तिरस्कार व ताड़ना का दण्ड भुगताने लगे। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के सारे द्वार इन अभागों के लिये बन्द कर दिये गये। उनको छूना पाप, देखना पाप, उनकी छाया पड़ना पाप गिना जाने लगा—यहां तक की देव-दर्शन भी उनके लिये निषिद्ध हो गया। ऐसी दशा में बेचारे हरिजन क्या तो पढ़ें लिखें, क्या व्यवसाय उद्योग करें, क्या समाज और देश की उन्नति में भाग लें और क्या ईश्वरदत्त शक्तियों का विकास करें। पानी के लिये तरसते रहें, मगर कुए बावड़ी पर पैर नहीं रख सकते। शिक्षा के लिये उत्सुक हैं, पर स्कूल में भरती नहीं हो सकते। भूख लगी है, मगर पैसा देकर भी होटल ढाबे में नहीं जा सकते। हृदय हरि-दर्शन को आतुर है, मगर मन्दिर की देहली नहीं लांघ सकते। चमड़ा ये कमाते, कूड़ा करकट ये उठाते, टट्टी पेशाब ये साफ़ करते—गरज़ यह कि वे सब काम करते जो माता करती है और जिनके बिना समाज दो दिन जिन्दा नहीं रह सकता। मगर हिन्दू समाज है कि जात्या-

भिमान में अंधा होकर इतनी बहुमूल्य सेवाओं का घृणा, जुल्म और शोषण से अच्छे और किसी रूप में बदला देना ही नहीं जानता। अजमेर के मलूसर मुहल्ले में मैला स्टेशन देखा और मनुष्यों को मलमूत्र के कुण्ड में काम करते पाया तो दिल ग्लानि के मारे भर गया। जब मालवे का हाल सुना कि वहां सवर्ण लोग हरिजन स्त्रियों के शिरों पर मैले के घड़े फोड़ कर और उनके साथ खुले रूप में कुत्सित व्यवहार करके उत्सव मनाते हैं तो ऐसा लगा कि मानवता हिन्दु समाज को छोड़ कर रसातल चली गई और दण्डस्वरूप उसके गले में गुलामी का तौक़ डाल गई है। हरिजनों की दुख गाथा यहीं समाप्त नहीं होती। सवर्ण गेहूं और शक्कर खाते हैं तो हरिजनों को जौ, बाजरे और गुड़ से ही मौसर और व्याह करने चाहियें। 'ऊंच' जाति के मन्दिर पर सोने का कलश चढ़े तो 'नीचों' के भगवान का घर बिना कलश के ही रहना चाहिये। हरिजन अपने दूल्हे को घोड़े पर चढ़ा कर ले जायगा तो सवर्ण बरात के लिये हर जगह हाथी कहां से आयेगा? साइकल पर बैठने की मनाई! द्विज के सामने मजाल है जो अछूत खाट पर बैठ जाय, नै लगा कर हुक्का पीले या खं जूता पहन कर निकल जाय! यह अभिशाप सवर्णों में भी आपस में मौजूद है। किसी राजपूत गांव में बनियों और शूद्रों को राजपूतों के सामने इसी तरह अपमानित होना पड़ता है। बदले में ठाकुर साहब को सेठजी के आगे कमर बांधे सलाम झुकाते हुए

किसी मिल के दर्वाजे पर देखा जा सकता है। झालावाड़ राज्य में एक लखपती हरिजन के सामने ब्राह्मण देवता को हाथ बांधे भीख मांगते भी पाया गया। रेल्वे और सरकारी विभागों में अछूत हाकिमों की .खुशामद करते हुए रात दिन ठाकुर साहिब, पण्डितजी और सेठजी सभी देखे जाते हैं। फिर भी भले ही कुत्ते बिल्ली छू जायं, मन्दिर में चले जायं और घर भर में चक्कर लगाते रहें, मगर हरिजन का कहीं गुजर नहीं। उनके मकान देखे तो अंधेरे, तंग और फूस मिट्टी के ढेर जहाँ हवा, रोशनी और कुशादगी का नाम नहीं। खाना जूठा और सड़ा बासी और कपड़ा उतरा हुआ मिले मगर काम करना पड़े कड़ी से कड़ा मेहनत का। न सर्दी का लिहाज, न धूप और वर्षा का खयाल। डांट डपट और गाली गलौज ऊपर से। ऐसी नरक यातनाओं को कहाँ तक सहा जाय? ऐसी हालत में क्या आश्चर्य यदि लाखों विधर्मी हो जायं और अनेकों धर्म और जाति के कट्टर दुश्मन बन जायं? सचमुच गाँधीजी ने अपने ऐतिहासिक उपवास से सदियों के सोये हुए हिन्दू अन्तःकरण को जगा कर और उसे हरिजन सेवा के महान् प्रायश्चित में लगाकर मानवता, हिन्दूधर्म और भारतवर्ष की अपूर्व सेवा की। वे और कुछ भी करते तो अकेले इस अलौकिक कार्य के लिये भी इतिहास में अमर हो जाते। मुझे यह सोच कर सन्तोष होता है कि इस विशाल यज्ञ में हमारे प्रान्त का हिस्सा तुच्छ नहीं था।
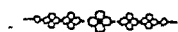
नवां अध्याय

राजस्थान सेवक मण्डल

हूंडी में राजपूताना और मध्य भारत के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं का सम्मेलन हुआ। उद्देश्य यह था कि सेठ जमनालालजी के नेतृत्व में राजस्थान के सारे राष्ट्रीय कार्यों का संचालन करने के लिये एक नेता-मण्डल बनाया जाय। इस आयोजन के संयोजक थे हरिभाऊजी और बाबाजी। उनमें पिछले तीन साल में एक से अधिक बार चुनाव-युद्ध हो चुके थे और तनातनी स्थायी हो गई थी। मारपीट की नौबत आते २ बची थी और एक बार तो क्रांतिकारियों की नौजवान सेना और दूसरे पक्ष के हिमायतियों की लाई हुई शोहदों की फ़ौज में जंग होते होते रह गई। इस नये प्रेम-प्रदर्शन को आम तौर पर संदेह की दृष्टि से देखा गया। लेकिन सम्मेलन के खुले अधिवेशन में भिन्न २ कार्यकर्त्ताओं ने जिस जोर से प्रस्तावित योजना का विरोध किया उसकी आशा किसी को भी नहीं थी। इसे ६ हिटलरों की मण्डली के नाम से पुकारा गया। आयोजन बुरी तरह असफल रहा।

हरिजन सेवक संघ का काम बढ़ रहा था। माणिक्यलालजी

मेवाड़ के एकान्त कोने कुंभलगढ़ में सपरिवार नजरबन्द थे। उनकी बीमारी की खबर पाकर हम लोग चिन्तित हुए और शोभालालजी उन्हें देखने भेजे गये। थोड़े अर्से बाद वे रिहा होकर अजमेर आ गये। इन दोनों को केवल हरिजन कार्य जैसे सामाजिक कार्य में संतोष नहीं था। मुझे इस कार्य को भी मजबूत और व्यवस्थित करना था। और हम सबको एक सूत्र में बंधे रहना था। इसलिये एक ऐसी संस्था बनाने का निश्चय हुआ जिसके हम सब पुराने साथी सदस्य हों, जिसका मुख्य कार्यक्रम रचनात्मक हो लेकिन राजनैतिक प्रवृत्तियों को जिसमें गुंजायश हो। गाँधीजी ने १६२६ में देशी राज्यों संबंधी जो विधान बनाया था हमने उसे ज्यों का त्यों ले लिया। उसमें सत्य और अहिंसा के मूलभूत सिद्धान्तों के साथ साथ ये मर्यादाएं भी स्वीकार की गई कि राज्य विशेष में वहाँ के राजाओं को आपत्ति न हो तो प्रजा के कष्टों को दूर करने की कोशिश की जाय, एक राज्य की टीका दूसरे राज्य में बैठकर न हो और ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप न चाहा जाय। सार यह कि राजाओं को निःशंक रखने के लिये अधिक से अधिक सावधान रहने की नीति अख्तियार की गई। संस्था का नाम 'राजस्थान सेवक मंडल' रखा गया, मुझे अध्यक्ष और शोभालालजी को मंत्री चुना गया और हमारे सिवाय चन्द्रभानुजी, माणिक्यलालजी, नयनूरामजी शर्मा और रामसिंह सदस्य हुए। हुक्मीचंदजी, दुर्गाप्रसाद और जयसिंह भी शरीक हो गये। इस प्रकार

हरीजी और पथिकजी को छोड़ कर बाकी सब पुराने मुख्य साथी और कुछ नये सहयोगी फिर ,कत्र हो गये। मुख्यतः सभी हरिजन कार्य में लग गये। १६३५ में नारेली में पक्के मकानात बनवा लिये गये और डूंगरपुर राज्य के सागवाड़ा स्थान पर भील सेवा आश्रम स्थापित कर दिया गया। एक साल बाद अजमेर में 'आदर्श प्रेस' नामक एक बड़ा छापाखाना खरीद लिया गया और 'नवज्योति' नामक हिन्दी राष्ट्रीय साप्ताहिक जारी कर दिया।

दक्षिण राजस्थान में मेवाड़ का दक्षिणी भाग और बांसवाड़ा तथा डूंगरपुर राज्यों का इलाका एक ऐसा प्रदेश है जहाँ की आबादी लगभग ७५ फी सदी भीलों की है। जहाँ तक मैं जानता हूँ यह जाति हिन्दुस्तान की सबसे ग़रीब जाति है। अज्ञान, अंधविश्वास तथा शोषण का ऐसा दृश्य शायद और कहीं नहीं मिल सकता। राज्य सत्ता और सूदखोर महाजनों के मारे यह भोले भाले प्राणी प्रायः निस्सहाय अवस्था में हैं। उनकी खेती का ढंग बिलकुल प्रारम्भिक, जमीन और औजार घटिया, सिंचाई के स्थायी प्रबन्ध का अभाव और जानवर दुबले और घटिया। इसी तरह उनके स्वास्थ्य की तरफ़ भी किसी का ध्यान नहीं। बीमारी में इन्हें दवा मिलना मुश्किल और यदि कोई संक्रामक रोग फैल गया तो सैकड़ों की संख्या में कीड़े मकोड़ों की तरह मर जाते हैं। मकान उनके खपरैल, बांस व मिट्टी के बने हुये, तंग, नीचे और अंधेरे जिनमें एक ही जगह खाना,

सोता और पशुओं के रखने का स्थान होता है। खुली हवा और धूप आदि प्रकृति की देन, भीलों की अपनी सैनिकवृत्ति और कठोर परिश्रमशीलता के कारण वे बेचारे किसी तरह जिन्दा रहते हैं। अन्यथा उन्हें तन ढकने को कपड़ा और खाने को पूरा अन्न भी मयस्सर नहीं होता। आधे पेट खाना, अर्ध नग्न रहना और जाड़ों में आग के सहारे रात बिताना, यह उनका साधारण जीवनक्रम है। शिक्षा के लिये राज्यों की तरफ से नहीं के बराबर व्यवस्था है, बेगार की मार और सूदखोरों की लूट के आगे वे हमेशा तंग रहते हैं। सामाजिक दृष्टि से भी उनके साथ लगभग अछूतों का सा व्यवहार होता है।

मैंने अपनी दूसरी यात्रा में ही यह सब स्थिति देख ली और निश्चय कर लिया कि दरिद्रनारायण सचमुच भीलों में निवास करता है और उसकी सेवा में अपनी और अपने साथियों की काफ़ी शक्ति लगनी चाहिये। राजस्थान सेवक मंडल में विचार होकर शीघ्र ही वागड़ सेवा मन्दिर नामक संस्था स्थापित की गई और वह मंडल की शाखा के रूप में डूंगरपुर राज्य को केन्द्र बना कर वागड़ के भीलों में काम करने लगी। पहले माणिक्यलालजी और बाद में दुर्गाप्रसाद भील क्षेत्र में पहुंच गये। वे खड़लाई पाल में कुटिया बना कर रहने लगे। एक पाठशाला के साथ काम शुरू किया गया।

यह काम शुरू करने से पहले मैंने महारावल साहब की भील सेवा कार्य के प्रति सहानुभूति प्राप्त करली थी। उनके प्रगति

शील विचारों और उदार वृत्ति का प्रमाण तो उनके हरिजन सेवा कार्य के सिलसिले में मिल चुका था। लेकिन उनके देश प्रेम में अपनी राजनैतिक मर्यादाओं का हमेशा खयाल रहता था। हम भी उनकी कठिनाइयों का लिहाज रखते थे। अब तक हमने जहां जहां भी काम किया था उसमें या तो बिजोलिया आदि की तरह राजाओं और जागीरदारों से लड़ कर जनता को राहत दिलाई या हरिजन सेवा की तरह स्वतंत्र रचनात्मक कार्यों द्वारा पीड़ितों की सेवा की थी। डूंगरपुर के भील सेवा कार्य में राज्य के सहयोग से प्रजा के उत्थान का प्रयोग शुरू किया गया। चूंकि दोनों तरफसे सद्भाव और सचाई रही, इसलिये परिणाम भी दोनों के लिये संतोषप्रद रहा। न हमारे कार्यकर्त्ताओं में प्रजा को भीतर से भड़का कर किसी छिपे हुये राजनैतिक उद्देश्यको पूरा करनेकी नीयत थी और न राज्य भीलों के शांतिपूर्ण विकास में बाधा डालना चाहता था। छोटे मोटे राज्य कर्मचारियों की तरफ से कभी कभी दिक्कतें जरूर पेश आई, लेकिन ऊपर से कोई प्रोत्साहन न मिलने और कार्यकर्त्ताओं की शिकायतों पर उचित ध्यान दिये जाने के कारण काम सहूलियत और गति के साथ बढ़ता चला गया। महारावल साहब और उनके भाई व राज्य के प्रधान मंत्री महाराज वीरभद्रसिंहजी दोनों का ही व्यवहार कार्यकर्त्ताओं के साथ सम्मानपूर्ण होने और कार्यकर्त्ताओं में राज्य कर्मचारियों के विरुद्ध व्यक्तिगत रागद्वेष न रहने के कारण हमारे भील सेवकों का राजा और प्रजा दोनों में आदर हो गया।

लेकिन भीलोंके लिये तो सेवकवर्ग का पहला ही परिचय था। अब तक जितने सफ़ेदपोश उनमें पहुँचे थे वे सरकारी कर्मचारी या व्यवसायी साहुकार लोग थे। इनका काम शोषण का था। इसलिये पढ़े लिखों के लिये भीलों के मन में घृणा और शंका के भाव थे। राजस्थान सेवक मंडल के कार्यकर्ताओं के सादा, खुले, कष्टसहिष्णु और सेवामय जीवन ने और उनके भीलों में ओत प्रोत हो जाने के कारण कार्यकर्त्ताओं पर उनका शीघ्र ही विश्वास क़ायम होगया। आगे चल कर यही भाव श्रद्धा के रूप में परिणत होगया। भीलों ने कार्यकर्त्ताओं के लिये सब सामग्री और परिश्रम जुटा कर अपनी ही तरह के कच्चे मकानात खड़े कर दिये। फ़र्क़ इतना ही था कि कार्यकर्त्ताओं ने अपनी कुटियायें हवादार प्रकाशमय और कुशादा बनवाईं। उनमें जानवरों के लिये अलग गुंजायश रक्खी गई। उनके रहन सहन और खाने पीने में भी स्वच्छता रहती थी और शारीरिक शौच भी उनका अच्छा था। देखा देखी और सतत् प्रचार के परिणामस्वरूप भीलों में भी स्वच्छता और स्वास्थ्य सम्बन्धी उपयोगी बातों का काफ़ी प्रसार हुआ।

सबसे अधिक आवश्यकता भीलों की शिक्षा की प्रतीत हुई। सदियों के उत्पीड़न और शोषण ने उन्हें सिखा दिया था कि जबतक ज्ञान का दीपक उनके मस्तिष्कों में रोशन नहीं होगा तब तक वे सभ्य चोरों और डाकुओं से अपनी रक्षा नहीं कर सकेंगे। इसलिये शिक्षा प्रचार से ही शुरुआत की गई और

इसी पर सबसे अधिक ज़ोर दिया गया। खड़लाई में माणिक्य. लालजी व पांतरी में कल्याण शर्मा के द्वारा दो पाठशालाएँ खोली गईं। बाद में तो यह संख्या काफी बढ़ी। इन पाठशालाओं में दिन को लड़के और लड़कियां और रात को युवक और प्रौढ़ लोग पढ़ाये जाते थे। अक्षर ज्ञान के साथ साथ छात्रों के लिये नहाना धोना आदि शरीर को सफ़ाई रखना, तकली पर कातना और पींजना ज़रूरी था। सामान्य ज्ञान भी दिया जाता था।

दूसरा कार्य औषधि वितरण का किया गया। इस सम्बन्ध में हर पाठशाला के अध्यापक के पास कुछ ज़रूरी औषधियां रक्खी जाती थी और उसीके द्वारा वितरण की जाती थीं। लेकिन ज्यादा ज़ोर स्वच्छता आदि प्राकृतिक नियमों के पालन पर दिया जाता था।

तीसरा काम खेती और पशु पालन के सुधार का किया गया। भील पशुओं से मिलने वाले खाद को अज्ञान और लापरवाही के कारण धूप में सूखने और इधर उधर पड़ा रहने देकर बहुत कुछ बर्बाद करते थे। सेवकों के प्रचार से वे खाद को खड्डों में भरकर उसकी रक्षा करने लग गये। इसी तरह पशुओं को आदमियों के रहने के घर में न रखकर अलग रखने, उन्हें अच्छी तरह खिलाने पिलाने और ज़रूरत के मुआफ़िक थोड़े किन्तु अच्छे जानवर पालने के लाभ समझाने पर इस दिशा में भी उन्होंने कुछ प्रगति की। लेकिन खेती के सम्बन्ध में भीलों

की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि वे केवल दैव पर निर्भर रहकर वर्षभर में केवल एक फ़सल और वह भी मक्की और कूरी बट्टी आदि घटिया अन्न ही बोते थे। इससे न उनके शरीर को पूरा पोषण मिलता था, न लगान और क़र्ज़ चुकाने को पैसा। हमारे कार्यकर्त्ताओं ने उन्हें कुये खोदकर गेहूं, कपास और तिल वग़ैरा बोने की प्रेरणा की। इन बातों के लिये राज्य अर्से से कोशिश करता आ रहा था लेकिन वह भीलों का विश्वास सम्पादन नहीं कर सका था। कार्यकर्ताओं की नसीहत पर भीलों ने यह काम उत्साह के साथ किया।

कपड़ा भीलों के शोषण का एक मुख्य कारण था। उन्हें पहनने और शादी ब्याह के सारे वस्त्र व्यापारियों से खरीदने पड़ते थे। ये लोग उनके अज्ञान और दारिद्र्य का अनुचित लाभ उठा कर उन्हें पूरी तरह लूटते थे। फलतः उन्हें कपड़ा भी बहुत नाकाफ़ी मिलता था और दाम भी कई गुने देने पड़ते थे। हमारे कार्यकर्ताओं के अनुरोध से उन्होंने पहले पहल कपास बोया। कपास तैयार होते ही वस्त्र स्वावलम्बन कार्य शुरू कर दिया गया। दुर्गाप्रसाद की देख रेख में एक बुनाई की पाठशाला खोल दी गई और बिजौलिया के एक अनुभवी खादी शिक्षक श्री० हेमराज कुछ होनहार विद्यार्थियों को कताई, पिंजाई और बुनाई की बाक़ायदा शिक्षा देने लगे। इधर श्री० नारायणी देवी और विमलादेवी स्त्रियों को चर्खा सिखाने लगीं। राज्य ने चर्खों के लिये जंगल से मुफ्त लकड़ी लानेकी सुविधा दे दी। खड़लाई और

पांतली दोनों पालों में प्रायः सभी घरों में चर्खा चलने लगा। पुरुष लोग भी अवकाश के समय तकली पर कातने लगे। प्रत्यक्ष लाभ होने पर यह कार्य स्वाभाविक गति से अपने आप बढ़ गया।

इसके बाद ही शराबबंदी का आन्दोलन शुरू किया गया। इस काम में अधिक कठिनाई नहीं हुई। इसका मुख्य कारण भीलों का दृढ़ पंचायती संगठन था। दोनों पालों की पंचायत का निश्चय होते ही शराब पीना बंद कर दिया गया।

इस सारे काम का प्रत्यक्ष संचालन माणिक्यलालजी करते थे। उनकी देख रेख में मेलों और मौसरों में गायनों, व्याख्यानों और प्रदर्शनियों द्वारा प्रचार कार्य होता रहता था।

सन् १६३६ में अकाल पड़ा। 'दुबला और दो असाढ़' वाली कहावत चरितार्थ हुई। ग़रीब भीलों में हाहाकार मच गया। इस समय राजस्थान सेवक मंडल के कार्यकर्त्ताओं ने तो दिल खोल कर काम किया ही, राज्य ने भी उदारतापूर्वक अपना फ़र्ज़ अदा किया। दोनों के सहयोग से अकाल सहायक समिति नामक कष्ट निवारिणी संस्था क़ायम हुई। स्वयं महाराज वीर॰ भद्रसिंह इसके अध्यक्ष हुये। भोगीलालजी बाहर सहायता एकत्र करने निकले और माणिक्यलालजी व दुर्गाप्रसाद के साथ सर्व श्री॰ कल्याण शर्मा, गौरीशंकर उपाध्याय, चन्दूलाल गुप्त, मदनसिंह तोमर, रेवाशंकर पांड्या, हेमराज धाकड़, गोव॰ र्धनलाल और भैरूलाल आदि कार्यकर्त्ताओं ने रियासत का

दौरा शुरू कर दिया। इन लोगों ने पैदल और बाइकलों पहाड़ों और जंगलों में, धूप देखी न छांह और भूख देखी प्यास, सारी रियासत को छान मारा। थोड़े अर्से में यह लो अकाल की स्थिति के बारे में बहुमूल्य सामग्री प्राप्त कर लाये। साथ ही जनता के दूसरे हालात के बारे में भी काफ़ी जानकारी हासिल करली। इस के अलावा ये लोग जहाँ जाते शिक्षा, खादी, स्वच्छता, सदाचार, निर्व्यसनता और कृषि सुधार सम्बंधी प्रचार कार्य भी सतत् करते थे। इस दौरे में भीलों की सबसे बड़ी कुरीति के दुष्परिणाम देखने में आये। इसे 'दाया' कहते हैं। शादी के मौक़े पर वर पक्ष वालों को वर, वधू और सम्बंधियों के लिये कपड़ा खरीदना पड़ता है और ८०) रुपया वधू के पिता के हाथों भेंट करने पड़ते हैं। भीलों जैसे ग़रीब लोगों के लिये यह भार बहुत भारी होता है। इसके लिये उन्हें महाजनों का क़र्जदार बनना पड़ता है और उस क़र्ज को चुकाने के लिये परिवार के एक नौजवान को साहूकार के यहाँ 'सागड़ी' बनकर रहना पड़ता है। सागड़ी वह प्रथा है जिसके अनुसार भील युवक को साहूकार के यहां भोजन मात्र पर चौबीस घंटे का नौकर रहना पड़ता है। उसे कोई वेतन या मजदूरी नहीं मिलती और यह गुलामी तब तक करनी पड़ती है जब तक युवक के परिवार वाले स्वतन्त्र रूप से साहूकार का ऋण न उतार दें। इन दोनों कुप्रथाओं को बंद करानेके लिये सब पालोंकी पंचायतों

से निश्चय करवाये गये और राज्य से उन निश्चयों के आधार पर दरख्वास्त की गई कि वह दाया प्रथा को क़ानूनन बन्द करदे। राज्य ने इस मांग को बहुत कुछ स्वीकार कर के क़ानून बना दिया।

अकाल निवारण का सब से महत्वपूर्ण काम यह हुआ कि भीलों में लगभग ५०० नये और राने तैयार हुये। अकाल सहायक समिति ने कुये खोदने के औजार खरीद कर लोगों में बांट दिये और उन्होंने अपने परिश्रम से जलाशय बना लिये। ये उनके लिये अकाल निवारण के स्थायी साधन तो बन ही गये, प्रस्तुत अकाल में भी इनके द्वारा सिंचाई करके भीलों ने थोड़ी २ फ़सलें पैदा करली। इधर राज्य ने भी तकावी बांटी और कुछ बंद बंधवा कर काफ़ी संख्यामें लोगोंको मजदूरीके रूप में अन्न दिया। राज्य की ओर से उदार सहायता अकाल के समय लगान में भारी कमी करना थी। डूंगरपुर में एक अन्न क्षेत्र भी खोला गया। इन सब उपायों का नतीजा यह हुआ कि दुर्भिक्ष के समय होने वाली लूट मार बिलकुल न हुई, लोग भूखों न मरे, कोई बीमारी न फैली और किसी को विधर्मी न बनना पड़ा। साथ ही जो रचनात्मक कार्यक्रम केवल दो पालों में सीमित था वह सभी पालों में फैल गया।

अकाल के खत्म होते ही वर्षा आरम्भ होने पर समिति की तरफ़ से फ़सल बोने के लिये बीज बांटा गया लेकिन दुर्दैव से अति वृष्टि होगई। उससे होने वाली हानि और कष्ट में सहायता

पहुंचाई गई और मलेरिया का प्रकोप होने पर औषध वितरण का काम किया गया।

इस संकट के समय ठक्कर बापाने डूंगरपुर राज्य का दौरा किया और भीलों में होने वाले सेवा कार्य को देख कर पूर्ण संतोष प्रगट किया। इस भील सेवा कार्य में श्री० घनश्यामदासजी बिड़ला ने आर्थिक सहायता दी और मेरे कलकत्ते जाने पर श्री भागीरथजी कानोडिया ने चंदा कराया। मैंने देखा कि कलकत्ते में कानोडियाजी और उनके साथी श्री० बसंतलालजी मुरारका और सीतारामजी सेखसरिया आदि ने एक अच्छा सुधारक दल बना रक्खा है जो राष्ट्रीय कार्य, समाज सुधार और रचनात्मक सेवा की प्रवृत्तियों में अच्छा भाग लेता रहता है और सहायता करता रहता है। ठक्कर बापा का भीलों के प्रति पक्षपात प्रसिद्ध ही है। उन्होंने भील सेवा के कार्य को हरिजन सेवा के कार्य में शुमार करके डूंगर-पुर के काम में हरिजन सेवक संघ से उदार सहायता दिलवाई।

मण्डल और राज्य के सहयोग का एक महत्वपूर्ण सुफल यह निकला कि किसी प्रकार का संघर्ष और कटुता आये बिना ही बेगार प्रथा बन्द होगई। राज्य ने क़ानून बना कर उसको ऐसा स्वरूप दे दिया जिससे ग़रीबों से मुफ़्त काम न लिया जा सके और हर कोई उन्हें तंग न कर सके।

सन् १९३७ के अंत में राजस्थान सेवक मण्डल यह सब काम श्री० भोगीलालजी पंड्या और उनके साथियों की इच्छा-

सुधार उनको सौंप कर चला आया। जहां तक मैं जानता हूँ इस तरह का सुन्दर और ठोस रचनात्मक कार्य इतने थोड़े समय और खर्च में राजपूताने में तो और कहीं नहीं हुआ। संतोष की बात है कि डूंगरपुर सेवा संघ ने उसे सुचारू रूप से जारी रक्खा मगर दुर्दैव से बाद में राज्य और सेवकों में सहयोग न रहा।

इसी बीच में मेरे, हरिभाऊजी के और हीरालालजी शास्त्री के बीच यह विचार हुआ कि राजस्थान में सारा समय लगाकर काम करने वाले सभी सेवकों को एक झंडे के नीचे लाया जाय। आपस में और दूसरे साथियों से लम्बी चर्चाएं होकर निश्चय हुआ कि *राजस्थान संघ नामक संस्था स्थापित की जाय जिसके* हम तीनों संचालक हों। शास्त्रीजी से इसी काल में विशेष परिचय हुआ। उनकी वनस्थली की एकान्त सेवा की तारीफ़ सुन चुका था। इस व़क्त वे प्रजामण्डल की राजनीति में सामने आगये। उनकी रुचियों, शक्तियों और आकृति को देखकर मैंने विनोद में कहा कि ये जयपुर के लिये वैसे ही साबित होंगे जैसे मेवाड़ के लिये पथिकजी। अनुभव ने बता दिया कि यह अनुमान ग़लत न था।

इस प्रकार हरिजन कार्य उत्कर्ष पर पहुंच रहा था, राजस्थान सेवक मण्डल सबल बन रहा था और एक प्रान्त व्यापी संगठन क़ायम होने को ही था कि कुछ विशेष कारणों से मैं सभी सार्वजनिक ज़िम्मेदारियों से अलग हो गया, हरिजन कार्य का संचा-

लन भार कलकत्ते के मित्रों के कंधों पर चला गया और राज-स्थान संघ मेरे बिना ही बना। व्यक्ति की हैसियत समष्टि में बहुत छोटी होने पर भी इतनी तो होती ही है कि किसी चीज़ को बनाने में भले ही सौ के हाथ लगें, परन्तु उसके बिगड़ने के लिये एक का निमित्त भी काफ़ी हो जाता है। तदनुसार हरिजन संघ और सेवक मण्डल को जो क्षति पहुंची वह पूरी हुई ही नहीं। दोनों संस्थाएं फिर न पनप सकी। इस काल में कई मीठे और कड़वे अनुभव हुए। इस काल में नवलगढ़ के सेठ मोतीलालजी चोखानी ने जो आदर सत्कार किया और डूंगरपुर के महारावल साहिब ने जिस आत्मीयता से काम लिया वह मैं कभी नहीं भुला सकता। इस समय पं० जियालाल-जी ने एक सच्चे मित्र की भांति साथ दिया। दोस्त के, कमज़ोर के और संकट-ग्रस्त के काम आने में मैंने इस आदमी को जिस तरह जोखम उठाते देखा वैसा और किसी को शायद ही देखा हो। यही मुख्य कारण है कि अनेक प्रतिकूलताओं के बावजूद वे अपने क्षेत्र की जनता के प्रिय हैं और उसमें सफलतापूर्वक काम कर रहे हैं। इनके साथी पं० कन्हैयालालजी की मुस्तैदी, बा० विद्यारामजी की वफ़ादारी और इनके धर्म-पुत्र श्री० दत्तात्रेय बाब्ले की योग्यता का अधिक परिचय भी इसी अर्से में मिला। श्री० जयनारायणजी व्यास के और मेरे सार्वजनिक सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। फिर भी उन्होंने मतभेद भूलकर मुझे बम्बई आने का निमन्त्रण दिया और एक तरह से शिर पर बिठाकर

रखा। इन दिनों वे दैनिक 'अखण्ड भारत' चला रहे थे। धनवानों के साथ स्वाभिमान क़ायम रखते हुए, दिनरात काम करते हुए और घोर आर्थिक कष्ट सहते हुए भी वे कैसे प्रसन्न रहते थे, सचमुच उनकी मस्ती ग़ज़ब की थी! राजस्थान के प्रथम श्रेणी के सेवकों में बहुत ही थोड़े ऐसे हैं जिनमें जननायक होने के बहुत से गुण एक जगह पाये जाते हों। व्यासजी उन्हीं थोड़े से कार्यकर्त्ताओं में हैं।

दसवां अध्याय

एक क्षेपक

सन् १९३८ में कांग्रेस संगठन में फिर तीव्र झगड़े हुये और कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य श्री शंकरराव देव को अजमेर आना पड़ा। उन्होंने सार्वजनिक जीवन में होने वाले व्यक्तिगत आक्षेपों की खुली निन्दा की और उसका आश्रय लेने वालों का मुंह बन्द किया। गांधीजी की राय के फलस्वरूप पं० हरिभाऊजी और उनके साथी कांग्रेस से अलग हुए। थोड़े अर्से बाद सेठ जमनालालजी की सलाह और बढ़ती हुई आर्थिक जिम्मेदारी को पूरा कर सकने की संचालकों की असमर्थता के कारण राजस्थान संघ भी टूट गया। सन् १९३९ में मैं गांधीजी के आदेशानुसार काम करने के लिये सेवाग्राम चला गया।

पौने दो साल के इस बीच के अर्से में मेरा मुख्य कार्यक्रम स्थानीय कांग्रेस का मार्ग-दर्शन करना, कुछ प्रजामण्डलों और कार्यकर्त्ताओं को सलाह मश्वरा देना, 'नवज्योति' संचालन करना और अजमेर के रेल्वे कर्मचारियों की शिकायतों में दिलचस्पी लेना रहा। मेरे लिये शान्तिकाल में कांग्रेस के कामों में सीधी जिम्मेदारी और क्रियात्मक दिलचस्पी लेने का यह पहला मौक़ा था। इस

अवसर पर सबसे कटु अनुभव तब हुआ जब कि प्रान्तकी एक मात्र महिला अध्यक्षाको पदच्युत करनेमें उचित अनुचित सभी साधनों को काम में लेकर प्रांत का नाम कलंकित किया गया। राजस्थान सेवक मंडल ने प्रस्ताव करके 'आदर्श प्रेस' और 'नवज्योति' को मेरे सुपुर्द कर दिया था। पत्र संपादन के सम्बन्ध में मेरा अर्से से यह खयाल रहा है कि एक ओर सम्पादक का फर्ज है कि वह अपने सम्वाददाताओं को तालीम देकर अधिक से अधिक उपयोगी बनाता रहे और पीड़ित पक्ष की सहायता करना अपना सर्वोपरि ध्येय रक्खे और साथ ही यह भी ध्यान रक्खे कि जिन लोगों के खिलाफ शिकायतें आवें उनके प्रति अन्याय न हो। इसलिये जहां मैं अपने संवाददाताओं से सच्ची, सप्रमाण और लोकहितकारी सामग्री ही भेजने का आग्रह रखता था और उन्हें लिखने के ढंग पर भी सूचनायें दिया करता था, वहां अधिकारियों और अभियुक्त पक्ष के लोगों से भी यह जान लेने की कोशिश करता था कि उन पर लगाये गये आरोपों के बारे में उनका क्या कहना है। उत्तर के लिये काफी समय भी देता था। जो शिकायतें सिर्फ खानगी जीवन से सम्बन्ध रखती थीं उन्हें केवल भेज देता था, छपाता नहीं था। फल यह होता था कि संवाददाता बहुधा निराधार या प्रमाणहीन शिकायतें या तो भेजते ही न थे या उन्हें वापस ले लेते या सुधार लेते थे और अधिकारी अक्सर शिकायतें दूर कर देते थे और प्रकाशन की नौबत ही नहीं आती थी। इस प्रकार दोनों ओर एक स्वास्थ्य-

प्रद वृत्ति पैदा होती थी। जहां तक मुझे याद है मेरे प्रकाशित संवादों का खंडन होने या उन पर खेद प्रकट करने के बहुत ही थोड़े अवसर आये। अवश्य ही, संपादक का धर्म है कि कोई बात ग़लत छप जाय तो सचाई मालूम होते ही खुले दिल से माफ़ी मांग ले। इसीमें शौर्य भी है। कायरता और बुराई तो इसमें है कि चुपचाप क्षमायाचना करले या भविष्य में कर्त्तव्य पालन पर कोई प्रतिबन्ध स्वीकार किया जाय। जहां तक अजमेर मेरवाड़ा की आलोचना का संबन्ध है मेरे अखबारों को यह फ़ख्र हासिल रहा कि उसने निडर होकर यहां की निरकुंश हकूमत की बेजा-व्तगियों, ज्यादतियों और कुचक्रों पर प्रकाश डाला, टीका की और जनता की आवाज़ व राष्ट्र की भावना और पीड़ितों की पुकार को प्रतिध्वनित किया। इसका पुरस्कार भी बृटिश सत्ता ने अच्छा दिया। उसकी तरफ़ से अनेक बार चेतावनियां मिलीं, तलाशियां ली गईं और ७ साल के अर्से में प्रेस और पत्र से कई बार जमानतें तलब की गईं। हैलोज़ साहब जिले के कमिश्नर थे। वे अपने अंध कांग्रेस-विरोध के कारण काफ़ी बदनाम थे। उन्होंने यह हिदायत जारी करवा दी थी कि मेरे अखबार और प्रेस को म्यूनिसिपलटियों, सरकारी मह-कमों और सहायता प्राप्त संस्थाओं से कोई काम न दिया जाय। ईश्वर का धन्यवाद है कि इन चट्टानों से टकरा कर भी यह नाव नहीं टूटी। इस नाव को खेने में मुझे आरम्भ में श्री० दीनदयाल दिनेश और स्व० सुन्दरलालजी गर्ग से अच्छी मदद मिली।

सिरोही से शासन सम्बन्धी गम्भीर शिकायतें आ रही थीं। जयपुर के पूर्व परिचित कवेन्ट्री साहब यूं तो वहां के पुलिस अधिकारी थे लेकिन उनका असर शासन की सभी दिशाओं में था। परिपाटी के अनुसार मैंने उन्हें शिकायतें लिख भेजीं। उन्होंने रिवाज के मुताबिक़ शिकायतों को तो गलत ही बताया, लेकिन वहां जाकर प्रत्यक्ष देख आने का निमंत्रण भी दे दिया। सन् १९३९ के शुरू में मैं सिरोही पहुंचा। मेरे विद्यार्थी काल में सिरोही के कुछ युवक जयपुर में पढ़ा करते थे। उन्हीं में से एक श्री ताराचन्दजी दोषी वहां मिल गये। मैंने उनसे और दो चार शिक्षित कार्यकर्त्ताओं से प्रजा पक्ष की मोटी मोटी बातें जान लीं। दीवान एक रिटायर्ड अंग्रेज थे। मुझे कहा गया कि उन्हें मिलने का अवकाश नहीं है और महारावल साहब को कष्ट देना उचित नहीं होगा इसलिये मुझे शिक्षा, माल, पुलिस, न्याय और जंगलात महक़मों के अफ़सरों से मुलाकात करके ही संतोष करना पड़ा। ख़ुद इन्हीं के मुँह से प्रजा की बहुत सी शिकायतों का समर्थन हो गया। सारा शासन सड़ा हुआ था। एक नौजवान थानेदार ने ख़ुद अपनी और पुलिस के दूसरे कर्मचारियों की गम्भीर ज्यादतियों का इक़बाल किया। कार्य-कर्त्ताओं ने इच्छा प्रगट की कि राजा-प्रजा के कर्त्तव्य पर मेरा वहां भाषण हो, लेकिन रियासत ने अपने एक अतिथि को भी यह अवसर देने का साहस नहीं किया। मैंने जो जानकारी प्राप्त की थी उसे एक आलोचनात्मक लेखमाला के रूप में प्रकाशित किया।

अलवर के साथ मेरा और भी घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ। वास्तव में अलवर के नव-जागरण में हमारे अखबार का एक विशेष हिस्सा रहा। वहाँ के प्रमुख सेवकों के निमंत्रण पर मैं कई बार अलवर गया। वहां के दो अंग्रेज दीवानों से भी मिला। हार्वे साहब के समय में एक खास घटना हुई। अधिकारी और कार्यकर्त्ता आये दिन की तनातनी से ऊब रहे थे और चाहते थे कि कोई बीच का रास्ता निकल आवे। प्रजामण्डल के ध्येय के बारे में और रियासतों की तरह वहां भी राज्य और प्रजा पक्ष में मतभेद था। मैंने दोनों को समझाया कि यह अखिल भारतीय रियासती प्रश्न है और इसका निर्णय भी दोनों तरफ़ के अखिल भारतीय नेता ही कर सकते हैं। इस लिये इस बारे में मतभेद क़ायम रहने दिया जाय लेकिन रोज़मर्रा के मामलों में यह समझौता कर लिया जाय कि राज्य वैध आन्दोलन में कोई दखल न दे और किसी सार्वजनिक भाषण या कार्य पर उसे आपत्ति हो तो सम्बंधित कार्यकर्त्ता से रूबरू बात समझे बिना पुलिस की इकतरफ़ा रिपोर्ट पर कोई कार्रवाई न की जाय। दूसरी ओर प्रजा सेवक किसी सरकारी कर्मचारी पर व्यक्तिगत आक्षेप न करें। यह शर्तें दोनों पक्षों को मंजूर हुईं और जहां तक मुझे मालूम है उस पर दोनों तरफ़ से ही अमल हुआ। इस समझौते का लाभ प्रजामण्डल को ही अधिक हुआ। बार बार की छोटी विफल मुठभेड़ों से उसका बल क्षीण होने से बच गया। इस अनुकूलता का कार्यकर्त्ताओं ने

उपयोग भी अच्छा किया। कांग्रेस व प्रजामण्डल की तरफ से अलवर में म्यूनिसिपल चुनाव लड़ा गया और उसमें अच्छी सफलता मिली। प्रजामण्डल के प्रचार और संगठन का प्रयत्न भी किया गया। जागीरी इलाक़ों की जनता के कष्ट निवारण के बारे में राज्य में और अखबारों द्वारा प्रयत्न किये गये। बाद में खादी भण्डार और दूसरी रचनात्मक प्रवृत्तियां भी जारी की गईं। अलवर की आधुनिक जागृति मृत महाराजा के निर्वासन काल से शुरू हुई थी। जनता की उदारता देखिये कि जिस शासक ने अपने उत्कर्ष काल में उसे बुरी तरह दबा कर रखा उसी का विपत्तिकाल में साथ दिया। एक मुसलमान डाक्टर और एक हिन्दू नाज़िम इस सिलसिले में जेल गये। बाद में कांग्रेस और प्रजामंडल के बाक़ायदा आन्दोलन हुए। उसमें सर्व श्री० हरनारायण शर्मा, कुंजबिहारीलाल मोदी, श्री० जमाली, मोदी नत्थूलाल, लक्ष्मणस्वरूप त्रिपाठी आदि कार्यकर्त्ताओं को जेल की यातनाएं भुगतनी पड़ीं। श्री० भोलानाथ मास्टर और श्रीमती सुशीलादेवी त्रिपाठी ने भी काफ़ी काम किया। श्री० जयनारायणजी व्यास के विरुद्ध निर्वासन आज्ञा निकाली गई। दूसरी भी दमन की कार्रवाइयां हुईं।

सन् १६३८ के शुरू में श्री० मूलाभाई देसाई के सभापतित्व में ब्यावर में राजनैतिक कांफ्रेंस हुई। इसमें मुख्य प्रस्ताव यह पास हुआ कि अजमेर मेरवाड़ा को यू. पी. से मिला दिया जाय ताकि इस ज़िले को प्रांतीय स्वशासन आदि राजनैतिक

सुधारों से वंचित न रहना पड़े। इस निश्चय में राजनैतिक बुद्धि और दूरदर्शिता का अभाव तो था ही, उस पर जब केन्द्रीय असेम्बली में चर्चा हुई तो सरकार की तरफ से कहा गया कि उसे ऐसे किसी निश्चय की खबर नहीं है। इससे पता चल सकता है कि उस समय प्रांत की राष्ट्रीय आवाज़ कितनी कमज़ोर थी और उसके निश्चयों के पीछे कितना थोड़ा कार्य बल रह गया था।

हरिपुरा कांग्रेस अभी हुई ही थी। यह अधिवेशन देशी राज्यों की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण था। इसमें कांग्रेस ने रियासती प्रजा की दायित्वपूर्ण शासन की मांग को उचित मान कर उसके साथ सहानुभूति प्रगट की। साथ ही साथ प्रजा को यह भी सलाह दी कि वह कांग्रेस पर निर्भर न रह कर अपने पैरों पर खड़ा रहना सीखे। उस समय एक दल को यह नीति बला टालने वाली दिखाई दी और बुरी लगी। मैं शुरू से ही देशी राज्यों में जैसे बृटिश सरकार का हस्तक्षेप नापसंद करता था वैसे ही कांग्रेस का दखल देना भी अवांछनीय मानता था। रियासती मामलों में कांग्रेस के प्रत्यक्ष भाग लेने से बृटिश सरकार को भी बीच में पड़ने का एक नया बहाना मिलता। कांग्रेस के साथ राजाओं के रूप में एक और बलशाली वर्ग से सीधी शत्रुता होती और प्रजा में स्वावलम्बन की भावना पैदा न होकर परमुखापेक्षी वृत्ति बढ़ती। इन सब बातों को देखते हुए हरिपुरा के निश्चय से मुझे बड़ा संतोष हुआ।

परिणाम भी तत्काल और सुन्दर हुआ। देश भरकी रियासती प्रजा में एक अभूत-पूर्व जाग्रति हुई। जहां प्रजा का राजनैतिक संगठन नहीं था वहां क़ायम होगया और जहां था उस में जान आगई। देखने २ प्रजामंडलों का एक तांता-सा बंध गया। कांग्रेस के बड़े बड़े नेता जो अब तक रियासती संगठन से उदासीन थे उसके कर्णधार होगये। पं० जवाहरलाल नेहरू अखिल भारतीय लोक परिषद् के अध्यक्ष थे और डा० पट्टाभि सीतारमैया उपाध्यक्ष। सेठ जमनालालजी ने जयपुर प्रजामण्डल के सभापति का आसन ग्रहण किया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने गुजरात व काठियावाड़ की और श्री० शंकररावदेव ने महाराष्ट्र की रियासती प्रजा की बागडोर सम्भाली। राजस्थान में जयपुर, जोधपुर और अलवर आदि में प्रजामण्डल पहले ही से थे, अब मेवाड़, भरतपुर, कोटा, बूंदी, शाहपुरा, सिरोही, करौली, बीकानेर, किशनगढ़ वगैरः में भी ये संस्थायें खड़ी हो गईं और न्यूनाधिक जोर पकड़ गईं। कई जगह सत्याग्रह हुये जहां पुरुष और स्त्रियां तक काफी संख्या में जेल गये, मार खाई और जुर्माने, निष्कासन और नज़रबन्दियां सहीं, हर जगह प्रजाकी आवाज़ बुलन्द करने वाला एक स्थायी संगठन बन गया, उसके सुख दुख में काम आने वाला एक सेवक समूह पैदा हो गया और प्रजा में अपने अधिकारों की चाह उत्पन्न हो गई। थोड़े से समय में इतनी जागृति हो गई कि अब किसी को यह कहने का साहस नहीं हो

सकता था कि प्रजा निरंकुश शासन से संतुष्ट है; वह अपना कोई हक़ या फ़र्ज़ नहीं समझती अथवा उसका प्रतिनिधित्व करने वाली कोई संस्था ही नहीं है। राज्यसत्ताओं ने इस प्रत्यक्ष सचाई से इन्कार करने और इसके असर को मिटाने की हज़ार कोशिशें की। पहले तो प्रजा के स्वशासन के अधिकार को ही नहीं माना गया, फिर माना गया तो बड़ी कंजूसी के साथ इतना ही कि वह राज्य संचालन में हिस्सेदार हो सकती है। कुछ भी हो, इतना तो हुआ ही कि सरकारी संस्थाओं में निर्वाचन पद्धति दाखिल हुई, म्यूनीसिपल कमेटियों में चुने हुये प्रजा प्रतिनिधि लिये जाने लगे, झूठी सच्ची असेम्बलियां क़ायम होना शुरू हुई और राजकाज में कार्यकर्त्ताओं की पूछ होने लगी।

बीकानेर के परलोकवासी महाराजा गंगासिंहजी ने इस युग में भी अपनी पुरानी दण्ड व भेद नीति से ही काम लिया। सन् १९३२ में सर्व श्री खूबरामजी व सत्यनारायण सराफ़ और स्वामी गोपालदास आदि सम्भ्रान्त नगारिकों पर षड्यंत्र का जो अभियोग चलाया गया था वह पुलिस की अमानुषिक यंत्रणाओं, न्याय विभाग की भ्रष्टता और रियासत की कुटिल नीति के लिये राजस्थान के अर्वाचीन इतिहास में अपनी मिसाल नहीं रखता। वस्तुतः परमात्मा ने गंगासिंहजी को जैसी असाधारण बुद्धि प्रदान की थी उसका उपयोग यदि वे प्रजा सेवा में करते तो बीकानेर का आधुनिक इतिहास शायद

दूसरी तरह लिखा जाता। लेकिन वृटिश छत्रछाया में हमारे राजाओं को जैसे संस्कार और शिक्षा दी गई उससे आम तौर पर यही परिणाम निकल सकता था कि वे अपनी अन्नदात्री प्रजा का दमन और शोषण करके अपने अहंकार का सन्तोष करें और भोग विलास में डूबे रहें। गंगासिंहजी के जमाने में पुराने सेवकों की जायदादें जब्त हुईं और उन्हें कठोर कारावास का दण्ड दिया गया और नये कार्यकर्ताओं को निर्वासन से और नवीन संगठन को वर्जित करार देकर दबाने की कोशिश की गई। बीकानेर की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के साथ श्री० मुक्ता-प्रसादजी सक्सेना का अटूट सम्बन्ध रहा। ये यू० पी० के रहने वाले और बीकानेर में प्रमुख वकील थे। खूब कमाने पर भी उनका खाना पहनना बहुत सादा था। वे असहयोग काल से ही खादी पहनते थे। कांग्रेस का काम हो या सेवा संघ का, देशी राज्य प्रजा परिषद् का प्रसंग हो या हरिजन सेवा का आयोजन हो, वे तन मन धन से सहायक होते थे। षड्यंत्र केस में वे देशभक्त अभियुक्तों के मुख्य क़ानूनी सलाहकार थे। इसी के पुरस्कार स्वरूप वे 'जंगलधर बादशाह' के कोप भाजन हुए। जिस मरुभूमि की उन्होंने चिरकाल तक सेवा की थी वहाँ से वे बात की बात में निकाल दिये गये। उनके जाने के बाद श्री० रघुवरदयालजी वकील ने उनकी जगह ली तो उनके साथ भी 'बीकाणा नाथ' का वैसा ही व्यवहार हुआ।

इसे प्रजा मण्डलों का काल कहा जा सकता है। इस काल

में प्रान्त की राजनीति में एक विशेष परिवर्तन हुआ। वह यह कि कार्यकर्ताओं की दृष्टि अपने अपने राज्यों की ओर लग गई। वहाँ के स्वाभाविक क्षेत्रों में उनके सेवा-भाव को अधिक संतोष मिला और सीमित होने के कारण वे उन्हें अनुकूल भी पड़े। इससे कांग्रेस का प्रान्तीय संगठन तो जरूर कमजोर हुआ और सार्वजनिक जीवन की प्रान्तीय एकसूत्रता भी घटी, मगर स्थानीय जनताओं में जागृति बढ़ी और सब मिलाकर राजस्थान का प्रजा-पक्ष सबल हुआ।

जब मैं सन् १९३८ के शुरू में अजमेर पहुँचा तो एक बड़े पुलिस अफ़सर एक पुराने मित्र के मार्फ़त मुझसे मिले। उनके खिलाफ़ मेरे अखबार में कुप्रबन्ध की शिकायतें छप रही थीं। आम लोगों में उन पर रिश्वतखोरी का आरोप भी लगाया जाता था। इससे वे घबराये हुए थे। मैंने उनसे सीधी बात की। उन्होंने चाहा कि पिछली बातों को दरगुज़र कर दिया जाय और वचन दिया कि भविष्य में शिकायत का मौक़ा नहीं दिया जायगा। लेकिन शिकायतें बन्द नहीं हुईं। इसलिए उन्हें सफ़ाई का अवसर देकर मैं सार्वजनिक बातों को तो छापता रहा और व्यक्तिगत आरोपों के बारे में उन्हें सावधान करता रहा। मेरी मुश्किल यह थी कि इन आरोपों को प्रमाणित करने को कोई सामने आने को तैयार नहीं था। इस बारे में क़ानून भी दोषपूर्ण है। उसके अनुसार रिश्वत लेने वाले की तरह देनेवाला भी अपराधी होता है। लेकिन अधिकांश मामलों में चलाकर

या राजी खुशी कोई किसी को घूंस नहीं खिलाता, बल्कि मजबूर होकर देता है। फिर भी यह सिद्ध करना कठिन होता है। स्वार्थी और भ्रष्ट कर्मचारी इस स्थिति का पूरा लाभ उठाते हैं। जहाँ शासन अपने कल पुर्जों की सफ़ाई और जनता की भलाई चाहता है वहाँ इस क़ानून के रहते हुए भी ऐसा हो सकता है कि रिश्वत देने वालों को माफ़ी देकर प्रमाण उपस्थित करने के लिये उत्साहित और निर्भय कर दिया जाय। मगर एक विदेशी सर्कार और खास तौर पर अजमेर मेरवाड़े के रद्दी शासन से यह आशा नहीं हो सकती थी। फलतः यहाँ लगभग सभी महकमों में गंदगी फैली हुई रही।

रेल्वे में भी यह गंदगी कम नहीं पाई गई। मेरे पास सैकड़ों मामले ऐसे आये जिनसे मालूम होता था कि रियासतों की तरह यहाँ भी हर नियुक्ति, तरक्क़ी और तब्दीली के लिये रिश्वत की रक़में बंधी हुई हैं। यह बुराई भारी भारी वेतन पाने वाले अधगोरे और गोरे अफ़सरों में सब से अधिक देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैं उस समय के लोको एन्ड कैरेज सुपरडंट से कई बार मिला। उन्होंने सहानुभूति दिखाई। फिर तो जिन जिन अफ़सरों के खिलाफ़ विशेष रूप से शिकायतें थीं उन सब से मुलाक़ात हुई। मुझे यह देख कर सानंद आश्चर्य हुआ कि अधिकांश ने अपना दोष स्वीकार किया और भविष्य के लिये शुद्ध रहने का वादा किया। जिन दो आदमियों ने ऐसा नहीं किया उनमें एक वर्क्स मैनेजर को सप्ताह भर में नौकरी छोड़

कर विलायत जाना पड़ा और दूसरे का दर्जा घटा दिया गया। दुर्भाग्यवश इसी समय सुपरडंट साहब का तबादला होगया और नये साहब ने नई नीति ग्रहण की।

कांग्रेस की प्रवृत्तियों में इस समय में प्रांतीय कार्यालय तो क्रियाशील नहीं रहा, मगर नगर कमेटी ने प्रचार कार्य सुचारू रूप से किया। उसकी तरफ़ से विशेष कार्य यह हुआ कि कांग्रेस के नाम पर अजमेर में म्यूनिसिपल चुनाव लड़ा गया। उसमें सफलता भी खासी मिली। मुट्ठी भर आदमियों ने अच्छा काम किया और नाम कमाया। कांग्रेस के म्यूनिसिपल के प्राण तो श्री कृष्णगोपाल गर्ग थे, मगर उसके नेता पं० दयाशंकर भार्गव के सौजन्य की, मास्टर चन्द्रगुप्तजी की शिक्षण-विशेषज्ञता की, और श्री० दत्तात्रेय वाग्ले की वक्तव्य-शक्ति की छाप भी अच्छी पड़ी। इस अर्से में अजमेर की राजनीति में कुछ नये तत्वों का प्रवेश हुआ। श्री० मूलचन्द असावा तीसरे स्थानीय वकील निकले जिन्होंने राष्ट्रीय संग्राम में भाग लिया। वे मेवाड़ प्रजा-मण्डल के सत्याग्रह में, अजमेर के युद्धविरोधी व्यक्तिगत सत्याग्रह में और फिर नज़रबन्दी काल में क़ैद हुये। ये अंग्रेज़ी के अच्छे लेखक हैं। मौलवी अब्दुल शकूर मौलाना मुईनुद्दीन साहब के शागिर्दों में हैं। साफ़ दिल के आदमी और जोरदार वक्ता हैं। डा० मुकर्जी भावुक बंगाली ठहरे। उन्होंने देश सेवा की शुरुआत काफ़ी जोश के साथ की और समय व धन भी काफ़ी लगाया। लेकिन नेतृत्व के गुण श्री० ज्वालाप्रसाद शर्मा में अधिक थे। ये लम्बी नज़रबन्दी भुगत कर आये थे। इनकी लगन और संगठन-शक्ति का पता उस समय लगा जब १९४१ में इन्होंने स्थानीय रेल्वे कर्मचारियों का प्रभावशाली यूनियन क़ायम किया।

ग्यारहवाँ अध्याय

युद्ध काल

सन् १९३९ के सितम्बर की शुरुआत में वर्तमान महायुद्ध छिड़ गया। बृटिश सरकार ने यह दावा किया कि वह संसार की स्वतन्त्रता के लिये लड़ रही है। कांग्रेस ने इस दावे को कसौटी पर कसा और माँग की कि बृटेन हिन्दुस्थान को आज़ादी देकर अपनी नेकनीयती साबित करे। बृटिश सरकार इस परीक्षा में फ़ेल हुई। कांग्रेस ने उसे काफ़ी मौक़ा देकर पहले क़दम के तौर पर अपने सारे प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों से त्यागपत्र दिलवाये। इस पर भी अंग्रेजों के स्वार्थ ने उसके विवेक को जागृत नहीं होने दिया। अंत में महात्माजी के नेतृत्व में कांग्रेस की तरफ़ से देशव्यापी व्यक्तिगत सत्याग्रह जारी किया गया। उस समय हमारे प्रान्त की कांग्रेसी राजनीति की यह स्थिति थी कि 'राजस्थान' पत्र अजमेर से उठ कर अहमदाबाद चला गया था, सर्व श्री० कृष्णगोपाल गर्ग, बाबा नृसिंहदास और जयनारायणजी व्यास या तो उदासीन होकर या कार्यक्षेत्र बदल कर अन्यत्र चले गये थे, शंकरलालजी वर्मा और शोभालालजी गुप्त दिल्ली में पत्रकार होगये थे। कोई आश्चर्य नहीं कि व्यक्तिगत सत्याग्रह में प्रमुख आदमियों में से भी थोड़ों

ने ही भाग लिया और उसका क्रम जारी रखने के लिये तो एक दो के सिवाय कोई भी दुबारा सामने नहीं आया।

हालांकि जिन लोगों को कांग्रेस कार्य में बाधक होने के दोषी ठहराने की कुछ हल्कों में प्रथा सी पड़ गई थी वे सब के सब अजमेर मेरवाड़े की राजनीति और भौगोलिक सीमा के बाहर चले गये थे, फिर भी न कोई खास काम हुआ और न आपसी कलह ही मिटा। गरज़ यह कि अगस्त १६४२ का अंतिम स्वाधीनता संग्राम छिड़ने से पहले इस प्रान्त का कांग्रेस-संगठन अत्यन्त दुर्बल हो चुका था। होता भी क्यों नहीं ? उसके मौजूदा कर्णधारों की शक्ति आपसी संघर्ष से क्षीण होगई थी। पथिकजी अपनी सेवा-भूमि राजस्थान से निराश होकर अपनी जन्मस्थली यू० पी० में चले गये थे। सेठ जमनालालजी स्वर्गवासी हो चुके थे। उनका सेवामय जीवन जितना सफल, सम्पन्न और गौरवशाली रहा था उनका निधन उतना ही आकस्मिक, दुखदाई और देश के लिये आघात रूप हुआ था। पं० अर्जुनलालजी सेठी अज्ञात अवस्था में ही चल बसे थे। सार्वजनिक जीवन के कटु अनुभवों ने उनके उग्र स्वभाव पर इतना जबर्दस्त आघात किया था कि उनके व्यवहार से वे पहचाने भी नहीं जा सकते थे कि वे राजस्थान की राष्ट्रीयता के जनक थे। ज़िन्दगी के आखिरी दिनों में तो धर्म, कर्म और विचार से वे सूफ़ी बन गये थे। जो लोग बाक़ी रहे उनमें से अधिकांश कोरी चर्चाएं करने, क़ानूनी बारीकियां निकालने

और आपस में रूठे हुओं को मनाने में अधिक दिलचस्पी लेते रहे। सर्कार से लड़ने के लिये या जनता की सेवा के लिये सार्वजनिक शक्तियों को संगठित करने की उनमें या तो रुचि कम होगई थी या क्षमता ही बहुत थोड़ी रह गई थी।

आखिर जिस भीषण संघर्ष को टालते टालते हमारे राष्ट्र के कर्णधारों का नाकों दम आगया था। वह उनके न चाहने पर भी हमारे विदेशी शासकों ने शुरू कर ही दिया। क्रिप्स की यात्रा असफल हो चुकी थी। इसके बाद गांधीजी को दृढ़ विश्वास होगया कि बृटिश राजनीतिज्ञ अपनी स्वार्थपूर्ण सत्ता छोड़ने को तैयार नहीं हैं और इसीलिये हमारी आपसी फूट की आड़ लेकर हमें गुलाम बनाये रखने पर कटिबद्ध हैं। उन्हें यहां तक कह दिया गया कि वे मुस्लिम लीग या और किसी भी प्रजा पक्ष के दल के हाथों भारत की बागडोर सौंप दें। परन्तु अंग्रेजों ने साफ़ जवाब दे दिया कि क्रिप्स के प्रस्तावों से आगे युद्ध के दौरान में सर्कार हरगिज़ नहीं जाना चाहती। इस पर गांधीजी अपने अहिंसा के अमर सिद्धान्त पर क़ायम रहते हुए यहां तक तैयार हो गये कि अगर सर्कार भारत की आज़ादी की घोषणा कर दे तो हम भारत और संसार की स्वतंत्रता की रक्षा में धुरी राष्ट्रों के ख़िलाफ़ मित्र राष्ट्रों का पूरी नैतिक शक्ति के साथ देने को तैयार हैं। मगर कवि ने ठीक कहा है।

'बिगड़ती है जिस वक़्त ज़ालिम की नीयत।
नहीं काम आती दलील और हुज्जत॥'

सर्कार अपनी बात से टस से मस न हुई। होती भी कैसे? भारत जैसी सोने की चिड़िया छोड़ने के बाद बृटेन की हैसियत ही क्या रह जाती है? इतना अतुल धन, इतने असंख्य सैनिक और इतने बड़े साम्राज्य से मिलने वाली प्रतिष्ठा फिर उसके पास कहां से आवे? अन्त में मजबूर होकर गांधीजी को अंग्रेजों के सामने भारत छोड़ो का नारा बुलन्द करना पड़ा और कांग्रेस की महासमिति को ८ अगस्त १९४२ को बम्बई में तदनुसार प्रस्ताव पास करना पड़ा। इस प्रस्ताव में कांग्रेस ने युद्धसंबन्धी अपनी नीति स्पष्ट करते हुए बृटेन और संयुक्त राष्ट्रों को अपनी सद्भावना का विश्वास दिलाया, भारत की अल्पसंख्यक जातियों को आश्वासन दिया और वायसराय से समझौते का द्वार खुला रखा। अवश्य ही समझौता न होने पर सार्वत्रिक सविनय आज्ञा भंग करने का निश्चय भी प्रगट किया गया।

सरकार तो पहले से दमन पर तुली बैठी थी। उसने राज॰ बन्दियों की नजरबन्दी के नियम अप्रेल में ही ठीक-ठाक करके तैयार कर रखे थे। ९ अगस्त को सारे देश में कांग्रेसजनों की सामूहिक गिरफ्तारियां शुरू होगईं। इससे कांग्रेस न तो कार्यक्रम तैयार कर सकी और न जनता को कोई सूचनाएं ही दे सकी। फिर भी सेनानायक गांधी की ललकार भारतवासियों के कानों पर पड़ चुकी थी कि उनकी मरजी के खिलाफ़ अंग्रेजों को यहां शासन करने का

या रहने का कोई अधिकार नहीं है, यदि वे हठधर्मी करते हैं तो वे अपने को हिटलर का भाईबन्धु साबित करते हैं और उस हालत में हर हिन्दुस्थानी का हक़ और फ़र्ज़ है कि उनकी हकूमत को असंभव बना देने के लिये अपनी सारी ताक़त लगा दे। फल यह हुआ कि नेताओं की गिरफ्तारी के विरोध में देश के एक सिरे से दूसरे तक विद्रोह का दावानल फैल गया। यह कोई साधारण आन्दोलन नहीं था। इसमें राष्ट्र की आवाज़ तो एक थी, मगर वह प्रकट हुई अलग अलग तरह से। जिस तरह किसी कोरस में मोटे और बारीक स्वरों का सामंजस्य होता है उसी तरह आज़ादी की यह आखिरी लड़ाई लड़ने में अलग अलग विचार के लोग शामिल तो हो गये, मगर लड़े अपने २ ढंग से। जिनका अहिंसा पर ही विश्वास था उन्होंने सभाओं, भाषणों, परचों, जुलूसों आदि आज्ञा-भंग के कार्यक्रम पर अमल किया। जो हिंसा को विहित समझते थे उन्होंने बम और तमंचा संभाला। जनता ने रेल, तार, डाक और सरकारी साधनों को नष्ट करके उन्हें सरकार के उपयोगी न रहने देने का क़ाम अंगीकार किया। विद्यार्थी तो एक तरह से इस युद्ध के प्रधान संचालक ही बन गये। देश में इस बार जैसी ज़बरदस्त हड़तालें, सभाएं, जुलूस और दूसरे प्रदर्शन हुए वैसे पहले कभी नहीं हुए। सैकड़ों कारखानों के मज़दूरों ने लम्बे अर्से तक काम बन्द रखा। स्कूल कालेजों को महीनों ताले पड़े रहे। निराश भूखों ने लूट मार का आश्रय लिया। क्रान्तिकारियों ने सुवर्ण

अवसर समझ कर अपने कर्तव दिखलाये। फलस्वरूप ब्रिटिश सर्कार के युद्ध प्रयत्न में काफ़ी बाधा पड़ी। कई जगहों पर इसका सारा कामकाज ही बन्द हो गया। उसने भी दमन का नंगा नाच दिखाया। आर्डीनेंस पर आर्डीनेंस जारी होते गये। जनता पर जगह जगह बेतहाशा गोली बार किया गया। गांवों पर धड़ाधड़ सामूहिक जुर्माने हुए। अनेक स्थानों में फौजी शासन क़ायम किया गया। हवाई जहाज़ों से बम गिराने में भी संकोच नहीं किया गया।

अजमेर-मेरवाड़ा में प्रथम हिन्दुस्तानी चीफ़ कमिश्नर के शब्दों में 'कोई उपद्रव नहीं हुआ'। शुरू २ में थोड़ेसे साधारण कार्यकर्त्ता गैरक़ानूनी कार्रवाइयों के अपराध पर दण्डित होकर जरूर जेल पहुंचे, परन्तु बाद में एक कुत्ता भी नहीं भोंका। जिस समय देश भरमें आग सी लगी हुई थी उस समय विद्यार्थियों की थोड़े दिन की हड़ताल के सिवाय न कोई सार्वजनिक प्रदर्शन हुआ और न सत्याग्रह। वस्तुतः पिछले कुछ वर्ष से प्रान्त की राजनीति का संचालन इतना असमर्थ और कांग्रेस-संगठन इतना दुर्बल हो गया था कि सरकार को अपने दमन के शस्त्रागार में से एक के सिवाय कोई दूसरा हथियार निकालने की जरूरत ही नहीं पड़ी।

वह हथियार था नजरबन्दी का। इसका प्रयोग उसने खुले हाथों किया। जिन पर कांग्रेस का काम करने या उससे सहानुभूति रखने का भी शक हुआ उन्हीं को पुलिस पकड़ लाई। इनमें से कुछ तो बिलकुल निर्दोष थे। उन्होंने पहले किसी राज-

नैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लिया था और इस बार भी उनका कुछ करने धरने का इरादा नहीं था। थोड़े से ऐसे लोग भी आये जिनके साथ पुलिस-कर्मचारियों का व्यक्तिगत द्वेष बताया जाता था। कोई ८५ आदमी नजरबन्द या क़ैदी बनकर जेल पहुँचे। हमारी बेबसी और पुलिस का हौसला यहां तक बढ़ा हुआ था कि उसे हरिभाऊजी जैसे प्रमुख कांग्रेसी को हथकड़ी पहनाकर लाने में कुछ संकोच नहीं हुआ और न किसी ने उसके खिलाफ़ आवाज़ ही उठाई। लेकिन जब बहुत-से नजरबंद माफ़ियां मांग कर छूटने लगे तब संदेह होता था कि शायद पुलिस ने अपनी कारगुजारी दिखाने और प्रांतीय संगठन की कमजोरी साबित करने के लिये ही अनाप-शनाप गिरफ़्तारियां की होंगी। इस बार राजस्थान के रियासती कार्यकर्त्ता तो प्रजा-मंडलों के सिलसिले में अपने-अपने राज्यों में गिरफ्तार हो ही चुके थे, इसलिये अजमेर जेल में जो लोग पहुँचे जिले के हिसाब से उनकी संख्या बड़ी ही समझनी चाहिये। इन नजरबंदों में ऐसे भी लोग थे जिन्हें पुलिस दूसरे प्रान्तों से पकड़ लाई थी।

हम सब लोग अजमेर सैंट्रल जेल में रक्खे गये। सरकार ने पहले ही से हमारे लिये नई नियमावली बना रक्खी थी। उसके अनुसार सुपरडंट जेल को हमारे साथ स्याह सफेद करने का अधिकार था। हम लोग बिना मुक़दमा चलाये अपनी आज़ादी से वंचित किये गये थे और वह भी इसलिये नहीं कि हमने कोई हिंसात्मक या अहिंसात्मक अपराध किया हो, बल्कि सिर्फ़

इस आशंका पर कि हम विदेशी सरकार के युद्ध प्रयत्नों में कहीं बाधक न हो जायं। इस प्रकार हम निर्दोष थे। फिर भी हमसे वे जर्मन और जापानी अधिक सौभाग्यशाली थे जिन्होंने अंग्रेजों के धन और जन की हानि करने में कोई कसर नहीं रक्खी थी और सशस्त्र मुक़ाबला करते हुये इनके हाथ पड़ गये थे। उनके लिये प्रति व्यक्ति पन्द्रह बीस रुपया रोज भोजन पर खर्च होता था, उनके रहने के स्थान सब प्रकार आरामदेह थे और उनके साथ व्यवहार आदरपूर्ण था। इधर हमको शुरू में नौ आने और बाद में दुगुनी तिगुनी महंगाई होने पर १) रुपया खाने का भत्ता दिया जाता था। हमें मामूली चोर डाकुओंके रहनेकी गिराइयोंमें रक्खा जाता था और हमारे और विदेशी युद्ध क़ैदियों के साथ होने वाले व्यवहार में जमीन आसमान का अन्तर था। नियमों में जो सुविधायें हमारे लिये दर्ज थीं उनमें से आरंभ में चीफ कमिश्नर ने मुलाक़ात करने व बाहर से रुपया और पुस्तकें वग़ैरह मंगाने की सुविधायें छीन ली थीं। अखबारों भी जिस छोटी सी सूची में से चुनाव करने का हमें अधिकार दिया गया था, वह एक गुप्त आज्ञा द्वारा रद्द कर दिया गया था। हमें सिर्फ अंग्रेजी का कांग्रेसी, विरोधी एङ्गलो-इण्डियन दैनिक स्टेट्समैन, हिन्दी का नरम 'दैनिक भारत', और उर्दू का मुस्लिम लीगी रोज़ाना 'हक़' दिया गया था। साधारण क़ैदियों को दिये जाने वाले मासिक पत्र भी बहुत अरसे तक हमसे दूर रक्खे जाते थे। जेल के

पुस्तकालय में हिन्दी के उपन्यास अवश्य ही अधिकांश अच्छे थे परन्तु और पुस्तकें न बहुत उपयोगी और ऊँचे दर्जे की थीं और न संख्या में ही काफ़ी थीं। सप्ताह में हम दो पत्र लिख सकते थे और चार पा सकते थे। लेकिन उनमें साधारण घर गृहस्थी और व्यापार धन्धे के सिवाय और कोई समाचार नहीं लिखे जा सकते थे। सेंसर बहुत कड़ा और अक्सर अयोग्य और मनमाना होता था। व्यायामके लिये वॉलीबॉल और फ़ुटबाल का नियमों में उल्लेख जरूर था, लेकिन फ़ुटवाल के लिये तो कोई मैदान ही जेलमें नहीं था, वालीबॉल के लिये भी किसी तरह खेंच खाँच कर काम चलाना पड़ता था। न हमें जेल के बाहर घूमने जाने की इजाजत थी और न सख्त गरमी में बाहर सोने की सुविधा थी, हालांकि दूसरे प्रांतों में यह सहूलियत दी गई थी। हम शाम के आठ नौ बजे से सुबह के छः सात बजे तक गिराइयों में बन्द रक्खे जाते थे। खाना बनाने के लिये हमें जेल के साधारण क़ैदी जरूर दिये जाते थे। कपड़ा नियमों में 'ब' वर्ग का दिया जाने की बात थी मगर गरम कपड़े और धोतियों वगैरा: के अलावा बाक़ी सब वस्त्र वही जेल के बने हुए मोटे-मोटे दिये गये।

हमारे सुपरडेंट कर्नल खरेघाट नामके पारसी थे। ये उन आदमियों में से थे जो दोस्त के साथ दोस्ती, दुश्मन के साथ दुश्मनी और निरपेक्षों के साथ उदासीनता रखने में उद्देश्य का ही खयाल करते हैं साधन की परवाह नहीं करते। जेलर

श्री० पशुपति नारायण आंखों का लिहाज रखने और हवा का रुख देख कर चलने वाले एक स्थानीय कायस्थ थे। बृटिश सरकार के कड़े रवैये के मारे दोनों परेशान थे। नतीजा यह हुआ कि कुछ यार दोस्तों को छोड़ कर जेल कर्मचारियों के व्यवहार से किसी राजबन्दी को सन्तोष नहीं रहा। जेल में काम के लिहाज से कर्मचारियों की तादाद पहले से ही कम थी। हम लोगों के पहुंचने से उनका काम और भी बढ़ गया। इसके सिवाय जो लोग चोर डाकुओं का बन्दोबस्त करने के खास तरीक़ों के आदी होजाते हैं उनमें सभ्य देशभक्तों की व्यवस्था करने की योग्यता नहीं हो सकती। मजबूरन बेचारों को लल्लोचप्पो और बहानेबाजी से काम लेना पड़ता था। सबसे ज्यादा शिकायत इस बारे में रही कि नजरबन्दों के लिये जो सामान खरीद कर आता था वह अच्छा नहीं होता, पूरा नहीं आता था और बहुत महंगा पड़ता था। इस बारे में ठेकेदारी पद्धति और उसके साथ लगी हुई स्वार्थ की गंदगी बहुत कुछ जिम्मेदार थी। खुद देशभक्तों का व्यवहार भी निर्दोष नहीं था। अधिकारियों से मेल जोल रख कर सुवि- धाएं लेना, छोटी छोटी बातों पर आपस में लड़ बैठना, मार पीट और गाली गलौज तक से न चूकना, देशभक्तों में भीतरी संगठन और अनुशासन न होना, नाजायज तरीक़ों से बाहरी दुनिया के साथ संबन्ध रखने की कोशिशें करना ऐसी बातें थीं जिनसे कई बार क्लेश होजाता था और कर्मचारियों को

कांग्रेसियों को तंग और बदनाम करने का मौक़ा मिल जाता था।

इस नज़रबन्दी में दो भूख हड़तालें भी हुईं। पहली श्री रमेशचन्द्र व्यास की नजरबन्दों के सामूहिक हितों व अधिकारों के संबन्ध में हुई। और इस सिलसिले में मुझे भी एक सप्ताह की काल कोठरी भुगतनी पड़ी। दूसरी भूख हड़ताल श्री० बालकृष्ण कौल की थी। इसका कारण तो सामूहिक नहीं था, मगर वह काफी लम्बी और खूब शानदार थी। इससे भी ज्यादा सानंद आश्चर्य तब हुआ जब मुझे हृदय का दौरा होने पर कई रोज़ तक श्री० कौल ने ऐसी सुश्रूषा की जैसी कोई निकट से निकट सम्बन्धी या मित्र भी नहीं कर सकता। मनुष्य के ऊपर से दीखने वाले सुविधा-प्रिय जीवन और आपे वाले स्वभाव की तह में भी कितना मनोबल और सेवा भाव छुपा रह सकता है।

ऐसी हालत में जिन लोगों को अन्याय या अव्यवस्था बरदाश्त नहीं होती उन्हें अकेले दम लड़ना पड़ता और परिमाण से अधिक त्याग और कष्ट सहन करना पड़ता। फिर भी एक दो कर्मचारियों के बारे में नज़रबंदों को परम सन्तोष रहा। डा० विश्वास एक सच्चे ईसाई और साधु आदमी थे। जेल के छल कपट और झूंठ पाखंड से डाक्टर साहब को अरुचि हुई और आखिर बेचारे तबादला कराकर चले गये। कम्पाउण्डर रामस्वरूप को देशभक्तों के साथ सहानुभूति रखने के संदेह में तब-

तील करके किसी एकांत जगह भेज दिया गया। डिप्टी दुर्गा-प्रसादजी नजरबन्दों का लिहाज रखते थे तो उन्हें श्री ज्वाला-प्रसाद के जेल तोड़ कर भागने में मदद देने का बहाना बना कर जबरन पेंशन दे दी गई।

इन सब प्रतिकूलताओं के बीच में भी आम तौर पर राज-बदी लोग प्रेम और शांति से रहते थे। बहुतों ने व्यायाम, खेल कूद और मालिश आदि के जरिये शरीर सम्पत्ति बढ़ाई। अनेकों ने भिन्न भिन्न भाषाओं और विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। समय समय पर व्याख्यानों द्वारा नये लोगों को विचार दिये गये। कुछ लोग धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन और चर्चा में बरा-बर रस लेते रहे और थोड़े से व्यक्तियों ने मौलिक और अनुवाद के रूप में लिख कर समय और शक्ति का अच्छा उपयोग किया। प्रार्थना और राष्ट्रीय गायन बहुत अर्से तक दोनों समय नियमित होता था और आजादी दिवस, तिलक पुण्य तिथि, गांधी जयन्ती और राष्ट्रीय सप्ताह, राष्ट्रीय पर्व मनाये जाते थे। इस नजरबन्दी के जमाने में सब से खटकने वाली बात यह थी कि बरसों से कार्य करने वाले लोगों में से भी कइयों ने कांग्रेस की प्रतिष्ठा सम्बन्धी अज्ञान का परिचय दिया। मालूम होता है हमारे बहुत से कार्यकर्त्ता अभी तक इस प्रारम्भिक सत्य को भी समझ नहीं पाये हैं कि एक पराधीन देश को आजाद करने के लिये जो लोग मैदान में आते हैं उनके लिये कुछ बातों की तैयारी अनिवार्य होती है। उनमें सब से प्रथम यह कि शत्रु के

पैरों में किसी हालत में भी शिर नहीं रक्खा जाता। दूसरे, सम्पत्ति और परिवार का मोह कम किया जाय। तीसरे, शारीरिक कष्ट सहन करने की शक्ति बढ़ाई जाय। चौथे, अपने परिवार के लोगों में इतना संस्कार जरूर पैदा किया जाय कि उनके साधारण सुख-दुख, रीति-रिवाज और माया-ममता के कारण देशभक्त की तपस्या भंग न हो और उसके काम में बाधा न पड़े। हमारे राजवन्दियों में बहुत लोगों के व्यवहार से ऐसा प्रतीत हुआ कि इस चतुर्मुख तय्यारी के प्रति उदासीन रहे थे। फल यह हुआ कि पैरोल अर्थात् अस्थायी शर्तबंद रिहाई पर जाने में तो अच्छे, अच्छे कांग्रेस कार्यकर्ताओं को भी संकोच नहीं हुआ और थोड़े ही दिन बाद माफ़ी माँग कर छूटने का क्रम आरम्भ हो गया। अजमेर-मेरवाड़े के शासन का रवैया भी इस मामले में इतना अपमानजनक रहा कि कई व्यक्तियों को उसने अत्यंत कड़ी शर्तें लगा कर लम्बे अर्से की कोशिशों के बाद पूरी तरह जलील करके ही रिहा किया। फिर तो वायुमण्डल इतना बिगड़ा कि रिहाई की आशायें बांधना और दिन रात उनकी चर्चायें करना एक मामूली बात हो गई और माफ़ी माँगने की शर्म की तेजी भी जाती रही। इस बार प्रांत का राष्ट्रीय नेतृत्व इतना निःसत्व साबित हुआ कि कांग्रेस के सैनिकों को आत्मसमर्पण के पतनकारी मार्ग से रोकने के लिये कोई ख़ास प्रयत्न नहीं किया गया। बल्कि एक दो मामलों में तो प्रोत्साहन दिया गया।

सूत्रसंचालकों की कोई सुनता ही न था। इतना संतोष जरूर था कि वे लोग खुद अपनी अयोग्यता स्वीकार करने लगे थे। फलस्वरूप क़रीब २५ राजनैतिक क़ैदी माफी मांग कर छूट गये जिनमें से कुछ तो प्रमुख व्यक्ति थे।

सन् १९४३ के मध्य में जब ऊंची अदालतों ने भारत रक्षा क़ानून की २६ वीं धारा को अनियमित क़रार देकर उसके मातहत हुई नजरबन्दियों को ग़ैर क़ानूनी घोषित कर दिया तो वायसराय ने उस मनमाने क़ानून के शाब्दिक दोष तो तुरन्त दूर कर दिये क्योंकि बृटिश शासन क़ानून की बारीकियों और न्याय के सिद्धान्तों पर स्थापित न होकर छल और बल पर क़ायम था। फिर भी सरकार ने यही नीति बनाली कि जिन्हें वे कम खतरनाक समझती थी उन्हें छोड़ दिया जाय। छूटने पर इन लोगों पर इस तरह की पाबन्दियां लगाई गई कि वे एक जगह से दूसरी जगह जाने पर पुलिस को सूचना देंगे, कांग्रेस के आदमियों से सम्पर्क नहीं रक्खेंगे और राजनैतिक कार्यों में भाग नहीं लेंगे। दो आदमियों के सिवाय किसी ने ये शर्तें भंग न कीं।

इससे कम दुःखद यह बात भी न थी कि न केवल कांग्रेस कमेटियों के पदाधिकारी ही, बल्कि गांधीजी के विचार और कार्यक्रम को मानने वाले अधिकांश कार्यकर्ता तक सब प्रकार की सुविधा होते हुए भी खादी न पहन कर मिल का कपड़ा पहनते रहे। इनमें से अधिकांश को संस्थाओं से पर्याप्त खर्च मिलता था या उनकी निजी आर्थिक स्थिति ठीक थी।

नजरबन्दी के जमाने में श्री० ज्वालाप्रसाद और रघुराजसिंह का जेल से भाग निकलना एक ग़ैर मामूली घटना थी। इसमें ज्वालाप्रसाद के साहस और सूझ का विलक्षण परिचय मिला। इन दोनों नौजवानों ने बालीवाल के लोहे के डंडों व मेजों की टांगों को धोतियों से बांध कर एक निहायत मजबूत सीढ़ी तैयार की, गिराई की छत के सूराख का पत्थर हटाकर उसमें से बाहर निकले और सीढ़ी के जरिये जेल की तीन दीवारें फांद कर रातों रात अजमेर मेरवाड़े की हद पार कर के जयपुर जा पहुंचे।

इसी युद्ध काल में मेरे कार्यक्रम में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सन् १९४१ के दशहरे के दिन वर्धा में अखिल भारतीय गो सेवा संघ की स्थापना हुई। सेठ जमनालालजी ने इसी काम में शक्ति लगाने का निश्चय किया। वेही संघ के अध्यक्ष बनाये गये साथ ही बापूजी से सलाह कर के मैं इस नतीजे पर पहुंच गया था कि देशी राज्यों की आजन्म सेवा के व्रत में इस नये काम में शरीक होने से कोई बाधा नहीं पड़ती उन्होंने एक नई बात बताई। उनकी दलील यह थी कि अब देशी राज्यों का प्रश्न ही नहीं है मौजूदा स्वरूप में अंग्रेज ही उन्हें रखना चाहते हैं, न कांग्रेस ही इसके पक्ष में है। मैंने यह सार निकाला कि अधिक से अधिक यह हो सकता है कि देशी राज्य प्रजा को दायित्वपूर्ण शासन देकर भारतीय संयुक्त राष्ट्र के अविभाज्य अंग बन कर ही रह सकेंगे, उनकी कोई स्वतन्त्र हस्ती

या निरंकुश हकूमत नहीं होगी। साथ ही यह भी विचार था कि हरिजन और खादी कार्य की तरह गोसेवा द्वारा भी देशी राज्यों की प्रजाकी सेवा खूब की जा सकती है। इस बात ने भी मुझे बहुत प्रभावित किया कि गो सेवा गांधीजी के कार्यक्रम का सब से बड़ा अंग है। देश की दृष्टि से खेती के बाद, बल्कि एक तरह से उससे भी अधिक, महत्व गो सेवा का है। भारतवर्ष के लिये गाय ही ऐसा जानवर है जो हमारे मुख्य उद्योग कृषि का एक मात्र आधार बैल देती है और एक निरामिषभोजी राष्ट्र के लिये जिन भोजन-तत्वों की अत्यन्त आवश्यकता है वे भी दूध घी वगैरः के रूप में मुहय्या करती है। अतः निश्चय हुआ कि मैं गो सेवा संघ में काम करने लगूं। सेठ जमनालालजी संघ की स्थापना के बाद पूरे पाँच महीने भी जीवित नहीं रहे; परन्तु मैंने देखा कि वे इस काम में तन्मय होगये हैं, थोड़े से समय में ही संस्था को उन्होंने मूर्त स्वरूप दे दिया है, देश के विशिष्ट हल्कों में उसके लिये अनुकूल वातावरण पैदा कर लिया है और कार्यकर्ताओं की एक मंडली जमा करली है। उनकी मृत्यु के बाद उनके निश्चय के अनुसार मैं गो सेवा की तालीम पाने के कार्यक्रम पर निकल पड़ा। प्रथम ६ माह के लिये बंगलौर गया। रास्ते में अपने मित्र और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्रधान मंत्री श्री० सूर्यनारायणजी के पास मद्रास में ठहरा तो सभा का विशाल, सुव्यवस्थित और अद्भुत कार्य देख कर चकित हो गया। वहाँ से अपने

भावी कार्य के लिये बहुत सी उपयोगी सूचनाएं लेकर बैंगलोर पहुंचा और इम्पीरियल डेरी इन्स्टीट्यूट में दाखिल हो गया। यह संस्था भारत सरकार के डेरी डिपार्टमेंट की तरफ से स्थापित है। इसमें गो सेवा की तालीम दी जाती है। इसके संचालक श्री नालरुस्तमजी कोठावाला और सुपरडेंट कॉक्स साहब थे। कोठावाला साहब अपने विषय के पंडित, राष्ट्रीय भावना रखने वाले अच्छे शासक, परिश्रमशील और स्वाभिमानी पारसी थे। मुझ पर उनका शुरू से ही प्रेम और विश्वास रहा। कॉक्स साहब एक फौजी अंग्रेज होते हुये भी मेरा आदर रखते थे। यही हाल वहां के दूसरे अध्यापकों का था। देसाई साहब से तो मित्रता ही होगई थी, लाजर्स साहब एक जिंदादिल और आतिथ्यशील ईसाई थे। नजीरुद्दीन साहब विनोदी जीव थे। श्री० रंगस्वामी विद्यार्थियों को अधिक से अधिक सिखाने के लिये उत्सुक रहते थे। हमारे एक ईरानी पड़ौसी आगा महमूद साहब और उनके परिवार के साथ भी मेरी घनिष्टता हुई। वे हिन्दू मुस्लिम एकता के हामी और निहायत शरीफ आदमी थे। विद्यार्थियों का तो कहना क्या? उन्होंने शुरू से अंत तक अपनी श्रद्धा और प्रेम से मुझे सदा के लिये उपकृत कर दिया। अनेक प्रतिकूलताओं के होते हुए भी उन्होंने राष्ट्रीय भावना, भारतीय रहन सहन, शरीर श्रम, स्वच्छता और दूसरी अनेक सूचनाओं को अंगीकार किया और मेरे हृदय पर यह अंकित कर दिया कि बैंगलोर

प्रवास के यह पाँच महीने मेरे जीवन के अत्यन्त सुखी दिनों में से थे। मुझे वहां काफ़ी सीखने को मिला। परन्तु स्वतंत्रता के इस अन्तिम संग्राम के कारण मैं निश्चित अवधि से एक मास पहिले ही सेवाग्राम चला आया। यद्यपि बापू और दूसरे बुज़ुर्गों की इच्छा यही थी कि मैं अपने रचनात्मक कार्यों में लगा रहूँ, परन्तु राजस्थान का प्रेम भी हृदय में बसा हुआ था। अजमेर चला आया और २४ अगस्त सन् १९४२ को रेल्वे स्टेशन पर उतरते ही गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया।

मई १९४५ के अन्त में जेल से रिहाई हुई। छूटने वालों में हम तीन आदमियों की आखिरी टुकड़ी थी। हमारा छुटकारा बिल्कुल बिना शर्त था। लेकिन बाहर आकर देखा कि जिन पर अटूट विश्वास और प्रेम किया था उन्होंने बुरी तरह धोखा दिया। ऐसे हालात में सेवा और आजीविका के पुराने साधनों का त्याग करके गोसेवा की विशाल योजनाओं और उमंगों के साथ जुलाई में परिवार सहित सेवाग्राम वापस पहुंचा। परंतु वहां भी विधाता को और ही कुछ मंजूर था। धनिकों की महत्वाकांक्षाओं पर कार्य का हित बलिदान हुआ। मुझे अपना कार्यक्रम बदलना पड़ा। दो साल के परिश्रम के बाद वे साधन जुट पाये जिन्हें लेकर 'नया राजस्थान' निकला। इस अर्से में काफी गांधी साहित्य के अनुवाद का अवसर मिला।

इस बीच अजमेर-मेरवाड़े के शासन में थोड़ी सी तब्दीली हुई। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के साथ ही उसके नेताओं ने

इमें एक सलाहकार कौंसिल दी। तीन चुने हुए, तीन मनोनीत और एक निर्वाचित नामज़द सदस्य बने। मगर इस कौंसिल को कोई अधिकार नहीं था, इसकी सलाह का शासन पर कोई कारगर असर न हुआ और कुछ भूलें भी ऐसी हुई कि यह कौंसिल असफल रही। अन्त में खुद कौंसिल को भी अपने विसर्जन और किसी लोकप्रिय अन्तरिम व्यवस्था की मांग करनी पड़ी। नतीजा यह हुआ कि चीफ़ कमिश्नर यहां का हिन्दुस्तानी और राष्ट्रीय सरकार का आदमी रहा; मगर उसके निरंकुश शासन में कोई रोक न लगी, जनता के प्रतिनिधियों की हुकूमत न बनी और नागरिक अधिकारों को बुरी तरह कुचला जाता रहा। 'नया राजस्थान' इस स्वेच्छाचारी व्यवस्था और व्यवहार का विरोधी होने के कारण अनियंत्रित सत्ता के वारों का बराबर शिकार रहा। गरज़ यह कि ज़माना बदल गया, देश आज़ाद हो गया, सब प्रांतों में स्वराज आया, मगर अजमेर मेरवाड़ा वहीं रहा जहां पहले था, बल्कि अपनेपन की आड़ में वह और भी बुरी निरंकुशता का निशाना बना। इस अर्से में यहां महीनों तक ज़बानबन्दी और ज़रा-ज़रासी बात पर अख़बारों पर असाधारण पाबन्दियां लगाने की ऐसी ज़्यादतियां भी हुई जो अंग्रेज़ों के ज़माने में भी नहीं हुई थीं।

प्रांत के दूसरे भाग हम से ज़्यादा ख़ुशक़िस्मत रहे। अवश्य ही अलवर, भरतपुर, क़रौली और धौलपुर मिला कर मत्स्य राज बन गया; मेवाड़, कोटा, बूंदी झालावाड़, टोंक,

शाहपुरा, किशनगढ़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ का 'राजस्थान' राज्य हो गया। इन सबको और जयपुर, जोधपुर और बीकानेर को लोकप्रिय अन्तरिम शासन मिल गये। संभव है और आशा है कि शीघ्र ही अजमेर मेरवाड़े सहित राजपूताने की सारी रियासतों का एक प्रान्त बन जाय और राजस्थानियों को भी देश की दूसरी इकाइयों की तरह राष्ट्र का गौरवशाली और स्वशासन भोगी अंग बनने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय।

लेकिन एक घटना जो पिछले महायुद्ध के समाप्त होने पर हुई वह इतिहास में अभूतपूर्व थी। वह यह थी कि विजयी हो कर भी बृटेन ने हिन्दुस्तान को आज़ादी दे दी। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का हाथ ज़रूर था और नेताजी सुभाष बोस की आज़ाद फौज के कारनामों का भी असर हो सकता है, मगर मुख्य बात यही थी कि गांधीजी के नेतृत्व में उनके दिये हुए अहिंसा के हथियार से कांग्रेसने जो लम्बी लड़ाई लड़ी उसी के कारण यह स्वतन्त्रता नसीब हुई। मुसलिम लीग की हठधर्मी और देश द्रोही नीति के कारण भारत माता के दो टुकड़े भी हो गये। यह विभाजन भी इस वेदर्दी के साथ हुआ कि देश भर में खून की नदियां बह गईं, लाखों नर नारी व बच्चे मारे गये, अरबों की सम्पत्ति नष्ट हो गई और असंख्य जन जलावतन हो गये। देश में साम्प्रदायिक झगड़ों का जो दौर चला उसकी लपटें राजस्थान में भी आईं। अजमेरमें काफ़ी तूफ़ान मचा। पाकिस्तान की देखा

देखी हिन्द में भी अल्पसंख्यकों की बरबादी हुई। हिन्दू महा-सभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को घृणा और हिंसा का प्रचार करने का मौक़ा मिला। नतीजा यह हुआ कि इन्हीं दोनों संस्थाओं के एक कार्यकर्त्ता नारायण गोडसे के हाथों राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की ३० जनवरी १९४८ को दिल्ली के बिड़ला भवन में निर्मम हत्या हुई। बापू के इस बलिदान से संसार अहिंसा का क़ायल, हिन्दुस्तान साम्प्रदायिकता से मुक्त और पाकिस्तान प्रभावित दिखाई दिया। उधर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, खाकसार और मुस्लिम नैशनल गार्ड आदि निजी सेनाएं रखने वाली संस्थाएं नाजायज़ क़रार दी गईं, और उनके हज़ारों कार्यकर्त्ता नज़रबन्द कर दिये गये।

इधर रियासतों को अंग्रेजों ने जाते जाते बिल्कुल आज़ाद कर दिया था। राष्ट्रीय सरकार के रियासती विभाग के मन्त्री सरदार पटेल की राजनीतिज्ञता, राजाओं की समझदारी और प्रजा शक्तियों के बढ़ते हुए वेग के कारण अधिकांश रियासतें या तो प्रान्तों में मिल गईं या राज्यसमूह बन कर बड़ी इका-इयों में बदल गईं। फिर भी काश्मीर तो हिन्द उपनिवेश में उस वक्त शरीक हुआ जब पाकिस्तान ने क़बाइलियों द्वारा उस पर हमला करके राजधानी को भी खतरे में डाल दिया। इधर हिंद के शान्ति प्रेम ने पाकिस्तान पर हमला करके उसे नष्ट करने के बजाय साथी देशों की संस्था में मामला पेश करने की प्रेरणा की। उधर हैदराबाद में इत्तिहादुलमुसल्मीन नामक साम्प्र-दायिक संस्था को लूट मार की छूट देकर, भीतर भीतर पाकि-स्तान से सांठ गांठ करके और हिन्द के साथ सम्बन्ध स्थापित न करके एक पेचीदा समस्या खड़ी कर दी।

बारहवां अध्याय

अलग अलग दल

हमने देख लिया की इस प्रांत में राष्ट्रोस्थान का काय कासा हुआ। यह अवश्य ही संतोष की बात है कि अनेक प्रतिकूलताओं के होते हुये हम इतना कुछ कर पाये। इसके अलावा ऐसी कई संस्थाओं, प्रवृत्तियों और व्यक्तियों ने भी जिनसे मेरा प्रत्यक्ष परिचय नहीं हुआ अपने अपने ढंग से काम किया है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कुल मिला कर भी यह कारगुजारी इतनी नहीं है जिस पर राजस्थान जैसा विशाल क्षेत्र गर्व कर सके। निस्सन्देह हम और भी अधिक कर सकते थे। वह क्यों नहीं हो सका? भविष्य में हम क्या करें? वे कौनसी भूलें थीं जिन्हें ध्यान में रख कर भूत काल से ज्याद और अच्छा काम भविष्य में हो सकता है? इस परिच्छेद में इन्हीं प्रश्नों पर विचार करना है।

दूसरे देशों और प्रांतों की तरह हमारे यहां भी सार्वजनिक कार्यकर्त्ता ज्यादातर मध्यम श्रेणी के लोगों में से ही निकले। यह एक ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जन सेवक न धनिक वर्ग में पैदा होते हैं, न गरीब समुदाय में। एक आराम

पसंद, अभिमानी और महत्वाकांक्षी होते हैं और दूसरे निराश, निर्जीव और निःसत्व। बीच के दर्जे के लोग ही ऐसे होते हैं जिन्हें धन का प्रमाद और दरिद्रता की विवशता उच्च भावनाओं से शून्य नहीं कर पाती। उनमें आदर्शवाद आसानी से जाग्रत होता है। इन्हीं में सेवा, शौर्य और बलिदान के दिव्य भाव फलते फूलते हैं। राजस्थानी देशभक्त और समाज सेवक इसी श्रेणी से आये। सब हालात को देखते हुये उनकी संख्या थोड़ी नहीं कही जा सकती। देश के दूसरे हिस्सों की भांति हमारे यहां के राष्ट्रीय कार्यकर्ता अलग अलग विचार श्रेणी के लोग थे। उन्हें क्रमशः उदार, विप्लववादी, राष्ट्रवादी, समाजवादी, साम्यवादी और सत्याग्रहवादी इन छः वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। राष्ट्र के उत्थान में अपने अपने समय, शक्ति और विचार की मर्यादा के अनुसार थोड़ा या बहुत इन सभी दलों ने योग दिया।

उदार या नरम दल के राजनीतिज्ञों ने सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश किया। यही स्वाभाविक भी था। जब राजसत्ता का दबदबा बहुत होता है तब उसके खुले मुकाबले का प्रारम्भ नरम ढंग से ही सम्भव है। सीधी और कड़ी मुखालिफत को आसानी से कुचल देने का राज्य को अवसर मिल जाता है। साधन उसके पास होते ही हैं। जनता दबी हुई होती है। वह न आवाज उठा सकती है न हाथ। ऐसी हालत में नरमदल के लोग ही काम कर सकते हैं। वे शिक्षित और सम्पन्न होते हैं,

हर प्रश्न को गहराई से अध्ययन करते हैं, लिखने बोलने की कला जानते हैं और युक्तियों में जितना सामर्थ्य होता है उस हद तक सत्ताधारियों को क़ायल या परास्त भी कर लेते हैं। लेकिन राजसत्ताएं पशुबल पर अवलम्बित होती और लोकमत पर कायम रहती हैं। वे केवल दलीलों से न सुधरती हैं और न उखड़ती हैं। उन्हें हिलाने को ताक़त चाहिये। या तो आपके पास राज्यकर्त्ताओं से अधिक शस्त्र शक्ति हो-अर्थात् सेना आपके पक्ष में हो या लोकमत आपके साथ हो और राज्य व्यवस्था पलटने के लिये आवश्यक कष्ट सहने को तैयार हों, तभी आप अनिच्छुक शासकों से अधिकार छीन सकते हैं। नरम दल वालों के पास ये दोनों ही बल नहीं होते। वे सिर्फ अर्ज मारूज़ कर सकते हैं, देशभक्ति में राजभक्ति का पुट मिला कर कड़वी गोली पर शक्कर का गलेफ़ चढ़ा सकते हैं, अपनी विद्वत्ता और तर्क की धाक जमा कर छोटी मोटी बातों में सरकार से राहत दिला सकते हैं या बड़े ओहदे ले सकते हैं और देश के प्रति, हल्की सी ही सही, भक्ति की दीप-शिखा सुलगती या जलती रख सकते हैं। इस दल का महत्व इस बात में है और वह छोटी बात नहीं है कि वह एक ऐसी पगडंडी बना देता है जिस पर आगे चल कर अधिक मनस्वी लोग एक प्रशस्त मार्ग निर्माण कर लेते हैं। वे राजनैतिक सेना में सफ़ मना का काम देते हैं, ये लोग शुद्ध राष्ट्रवादी होते हैं साम्प्रदायिकता

से अछूते रहते हैं, सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन में भेद की गुंजायश मानते हैं और अपने को उच्च वर्ग के प्राणी समझने के कारण जनता में घुलमिल नहीं सकते। इनका प्रभाव बहुत सीमित रहता है। समाज सुधार, कष्ट निवारण और विचारों का आदान प्रदान आदि कार्य इनके हाथों कुछ न कुछ सम्पन्न होते हैं। रियासतों की राज सत्ता अधिक निरंकुश होने के कारण हमारे रजवाड़ों में दल के रूप में तो ये लोग कभी सामने नहीं आये। सिर्फ अजमेर मेरवाड़े में सन् १६१६ तक इन्होंने कांग्रेस में भाग लिया। उस वक्त कांग्रेस का ध्येय वृटिश साम्राज्य के भीतर रहकर स्वशासन प्राप्त करना था। मगर रचनात्मक काम हमारे यहां के नरम दल वालों के हाथ से कुछ खास नहीं हुआ दीखता है। इनकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि अंग्रेजी राज्य को इन्होंने ईश्वर का प्रसाद मान रक्खा था। अवश्य ही ऐसा पोच ध्येय युवकों से तो फूटी आंखों भी नहीं देखा जा सकता। साधारण जनता से इनका वास्ता नहीं था। इसलिये उसका बल भी इन्हें नहीं मिलता था।

दूसरा दल राष्ट्रवादियों का था। इसमें धनिकों की अपेक्षा बौद्धिक वर्ग का हिस्सा ज्यादा था। वकील और डाक्टर वगैरा इसके कर्णधार थे। यह उदार दल से ज्यादा गरम बातें करने और साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों से अलग रहने वाले थे। प्रचार ही इनका मुख्य अस्त्र था। जनता के निम्न मध्यम वर्ग तक इनकी पहुंच थी। इस अर्थ में नरम दल वालों से यह अधिक लोकप्रिय

हुये। इनके पीछे भी किसी ठोस सेवा, सर्वसाधारण की आवाज़ या क़ुरबानी का बल नहीं था। इनमें से कुछ लोगों को जेल की हवा भी खानी पड़ी। विदेशी बहिष्कार और होमरूल आंदोलन इनके दो ख़ास संघर्षात्मक प्रयत्न थे। स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा इनके कार्यक्रम का रचनात्मक भाग था। राजस्थान में इस दल ने कोई ख़ास स्थान नहीं पाया और रियासतों में तो इसका कोई अस्तित्व भी नहीं हुआ। ये लोग भी देहाती जनता में नहीं पहुँचे और न मज़दूरों या ग़रीबों की ही प्रत्यक्ष सेवा की तरफ़ ध्यान दे सके। इनका ध्येय नरमों से आगे बढ़ा हुआ था। यह ऐसा स्वराज्य चाहते थे कि सम्भव हो तो भारत एक उपनिवेश के रूप में बृटिश साम्राज्य के भीतर रहे और आवश्यक हो तो उसके बाहर हो जाय। इनकी कल्पना में स्वराज्य का अर्थ यह था कि सत्ता अंग्रेज़ों के हाथ से शिक्षित भारतीयों के हाथ में आ जाय, सर्व साधारण उसमें भागीदार हों या न हों। इस प्रान्त में इस दल के जो इक्के दुक्के लोग कांग्रेस में शरीक हुये वे या तो तब जब मान और प्रतिष्ठा मिली तब शरीक हुये या अपने धंधों को चमकाने के हेतु से शामिल हुये। इनके कारण दलबंदी भी बढ़ी।

तीसरा दल विप्लववादियों का था। राजपूताने में इनका अस्तित्व शुरू से था। हमारी मध्यकालीन हिंसापूर्ण वीरता की परम्परा के कारण राजस्थान देश के क्रांतिवादी आन्दोलन का एक प्रमुख केन्द्र रहा। आरम्भ तो इन लोगों ने रूस, इटली

और तुर्की आदि युरोपियन देशों के अनुकरण से ही किया, मगर बंग भंग के बाद बंकिम बाबू के 'आनन्द मठ' की कल्पना और अरविन्द की शिक्षा से इसका भारतीय संस्करण स्वतन्त्र बन गया। ये ऐसे राजनैतिक सन्यासियों की टोली थी जिनके एक हाथ में 'गीता' और दूसरे में तमंचा था, हृदय मातृभूमि को विदेशियों के बंधन से छुड़ाने के लिये व्रतबद्ध था और बुद्धि अपने पराये के रागद्वेष से मुक्त थी। इनका उत्कट देशानुराग, इनका ध्येय-प्राप्ति का उन्माद, इनका जान हथेली पर रख कर चलना, इनकी कार्य-दक्षता, निर्भयता और पवित्र जीवन युवकों को स्फूर्ति देने वाला था। इनका साहसी कार्यक्रम शिक्षित वर्ग को प्रशंसक बनानेवाला और उनका प्रबल साम्राज्य की अतुल शक्ति का सामना करते हुए पतंगों की तरह बलिदान हो जाना शत्रु तक को शरमानेवाला था। इन्होंने नैराश्य के रेगिस्तान में स्वावलम्बन की हरियाली दिखाई, शासक मंडल के अत्याचारी व्यक्तियों में भय का संचार किया और सरकार को नृशंस दमन के मार्ग पर धकेल कर विदेशी शासन का असली रूप प्रकट किया। इनके कार्य के परिणामस्वरूप सत्ताधारियों को कुछ राजनैतिक सुधार भी देने पड़े। लेकिन विप्लववाद का आधार हिंसा का ही था। हिंसा का परिणाम प्रतिहिंसा अनिवार्य है। इससे विपक्षी पर उल्टी ही प्रतिक्रिया होती है। इसका अनुसरण छुप कर ही हो सकता है और गुप्तता के साथ छल और झूठ का अटूट सम्बन्ध है।

परायों पर चलाते चलाते जिन अस्त्रों का हमें अभ्यास हो जाता है पक्ष भेद होते ही हम उन्हीं को अपनों पर भी चलाने लगते हैं। हमारा देश इतना विशाल है कि उसके लिये राष्ट्र-व्यापी गुप्त संगठन एक असाध्य चीज है। भोली भाली ग्रामीण जनता के संस्कार उसे सतत हिंसा और असत्य के मार्ग पर नहीं चलने देते। हत्या और लूटमार के प्रति उसकी हार्दिक या व्यापक सहानुभूति नहीं हो सकती। यही कारण है कि जहां आयर्लैंड के दो सौ वर्ष के राष्ट्रीय संग्राम में क्रान्तिकारियों के खिलाफ कोई देशद्रोही गवाही देने और जनता मदद करने को तैयार नहीं हुई, वहां भारत में सिर्फ तीस साल में ही लगभग हर राजनैतिक षड्यंत्र भेदियों और विश्वासघातियों के कारण असफल हुआ। अज्ञान और दरिद्रता के कारण फ़ौज में भरती होने वाले भाड़े के आदमियों से भी बहुत आशा नहीं की जा सकती कि वे किसी सशस्त्र क्रान्ति में प्रजा-पक्ष का साथ देंगे। सच तो यह है कि छलबल और पशुबल में अंग्रेज इतने पटु थे कि इस अखाड़े में उतर कर इनसे जीतना बहुत मुश्किल था। इसमें समझौते की गुंजायश नहीं थी। सैनिकों को सदा जीन कसे और मैदाने जंग में डटे रहना पड़ता था। ऐसा अविश्रान्त युद्ध बीच बीच में आराम मांगने वाली मानव-प्रकृति के विपरीत था। साधारण जनता से इनका सम्पर्क नहीं था और लोकमत का खुला समर्थन मिल नहीं सकता था। ये लोग भावना प्रधान होते थे। राजस्थान के क्रान्तिकारियों में अधिकांश के

बंगाल और महाराष्ट्र के आदि विप्लववादियों जैसी नैतिक उच्चता प्राप्त नहीं थी। सन् १६२० के बाद व्यक्तिगत जीवन की शुद्धता, अपनों के साथ सरल व सत्य व्यवहार, सिद्धान्तों की दृढ़ता, साहस और साधनों की पूर्णता आदि गुण देश के दूसरे भागों की तरह राजस्थान के विप्लववादियों में भी कम होते गये। चालू राजनीति में घुसते ही ये दलबन्दी में पड़ गये। मगर इसके कुछ कारण भी थे। प्रथम तो रूसी साम्यवाद के धर्महीन प्रभाव ने इनकी आस्तिकता और नैतिकता को ठेस पहुंचाई, दूसरे खुली देशभक्ति से मिलने वाले पद और प्रतिष्ठा का जादू चला और तीसरे रचनात्मक कार्यक्रम में लगे हुए सेवकों को मिलने वाले साधनों और सुविधाओं ने ईर्षा व प्रलोभन उपस्थित किया। फल यह हुआ कि कफ़न बांध कर चलने वाले ये राजनैतिक फ़क़ीर भी निष्ठा, निस्पृहता और तप के मार्ग से विचलित होगये। त्याग के अभिमान ने सहयोग का द्वार नहीं खुलने दिया। दूसरे क्रियाशील दलों से इनका संघर्ष दीर्घकालीन रहा। फिर भी इनमें अन्य सभी दलों की अपेक्षा देश के लिये कुछ न कुछ कर गुजरने का उत्साह अधिक बना रहा। विप्लववादी राजस्थान यह गर्व कर सकता है कि उसमें अनेक प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों को आश्रय मिला और उसने दूसरे प्रांतों की तरह विश्वासघाती गवाह पैदा नहीं किये।

साम्यवादी या कम्युनिस्ट दल भारत में रूस की १६१७

वाली लाल क्रांति के बाद पैदा हुआ। ज़ारशाही के लोमहर्षी अत्याचारों का अन्त करके यूरोप के सबसे बड़े राष्ट्र ने जब ग़रीबों के राज की दुंदुभी बजाई तो संसार के पीड़ित वर्ग में एक अजीब आशा, उत्साह और आत्म-विश्वास की लहर दौड़ गई। साम्यवाद ने सैकड़ों भारतीय युवकोंके दिल व दिमाग़ पर जल्दी ही क़ब्जा कर लिया। देखते देखते उनमें कार्ल मार्क्स का तत्वज्ञान घर कर गया। सन् १९२९ तक मुझ पर भी इसका काफ़ी असर रहा। इस दल की विशेषता यह थी कि यह सर्व साधारण के साथ एकरस था। यह उन्हीं के लिये या यूं कहिये कि उन्हीं का था। इसका उद्देश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति, साम्राज्यवाद और शोषकवर्ग को मिटा कर वर्गहीन समाज की रचना और अन्त में अहिंसा की प्रस्थापना करना है। यह मानता है कि जो श्रमिक अपना पसीना बहा कर सुख के सारे साधन पैदा करते हैं उन्हीं के हाथ में इन साधनों का नियंत्रण होना चाहिये। वह यह भी मानता है कि राज्य-संस्था संगठित हिंसा का दूसरा नाम है और अहिंसा के क़ायम होने और जीवित रहने का एक मात्र उपाय यह है कि कोई सर्कार ही न हो और समाज के सब काम काज उसके सदस्यों की कर्तव्य-परायणता, सहयोग और ज़िम्मेदारी की भावना से चलें। परन्तु पूंजीपतियों, साम्राज्यवादियों, सामन्तशाहों और अन्य शोषक वर्गों को उखाड़े और उनकी ढाल शासन-संस्थाओं को तोड़े बिना वह स्थिति नहीं आ सकती। इसलिये साम्यवाद

के मातहत बीच की अवस्था यह होगी कि हिंसा का आश्रय लेकर साम्यवादी सरकार क़ायम की जाय। इस दल के प्रयत्न से भारत के मज़दूरों में काफी और किसानों में कुछ जागृति हुई। धुन के पक्के ये लोग भी उतने ही थे जितने विप्लववादी। इनमें साम्प्रदायिकता तो नाम को नहीं थी। प्रचारक इनसे बढ़कर शायद ही कोई दूसरा दल होगा। मगर इनका अनीश्वरवाद, इनकी नैतिकता के प्रति उदासीनता, इनकी कटु आलोचना और व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन में इनकी विषमता इनके ऐसे दोष थे जिनके कारण ये भारतीय लोकमत का समर्थन न पा सके। बृटिश सरकार इन्हें विप्लववादियों से भी ख़तरनाक़ समझती थी। इसलिये उसके दमन कीचक्की में ये ख़ूब पीसे गये। इनका यह विश्वास है कि जनता में असंतोष क़ायम रहना और बढ़ना चाहिये ताकि उसमें क्रांतिकारी भावना बनी रहे। इस लिये लोगों के तात्कालिक कष्ट निवारण का उपाय न करना, पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों के साथ किसानों व मज़दूरों के संघर्ष द्वारा वर्गयुद्ध की स्थिति बनाये रखना साम्यवादियों की कार्य-पद्धति का एक ख़ास उसूल है। लेकिन इससे एक हानि होती है। सर्वसाधारण की मनोवृत्ति यह है कि वे बातें ख़ूब गरमागरम पसन्द करते और नारे उग्र से उग्र बुलन्द करते हैं, मगर लम्बा और तीव्र कष्ट सहन नहीं कर सकते। इसलिये हर मिहनत में उन्हें कुछ न कुछ राहत न मिले और कोई न कोई स्पष्ट अधिकार या सुविधा प्राप्त न हो तो उनका न अपने नेताओं

पर और न उनके बताये हुए रास्ते पर ही विश्वास स्थिर रहता है। फिर भी साम्यवादी विचार-धारा का असर हमारे शहरी मजदूरों पर जरूर हुआ है और बड़े २ कारखानों में काम करने वाले लोग लाल झंडे के नीचे एक हद तक संगठित भी हुए हैं। राजस्थान में भी अजमेर, ब्यावर, किशनगढ़ आदि की मजदूर हड़तालोंमें साम्यवादियोंका हाथ था। साम्यवादियों की क्रान्ति की कल्पना में इन्हीं शहरी श्रमजीवियों को अग्रगामी दल और स्तंभ माना गया है। इसलिये इन्हें मुट्ठी भर होते हुए भी वे असंख्य किसानों की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। लेकिन इस विचार का भारतीय परिस्थिति से मेल नहीं बैठता। यहां के ६० फी सदी लोग देहाती हैं। किसान सदियों से एक खास तरह की संस्कृति में पला है। उसे ऐसा कोई रास्ता पसन्द नहीं हो सकता जो सर्वथा विदेशी और नया हो, जो धर्म और ईश्वर की सत्ता के विपरीत दिखाई देता हो, जिसमें छलकपट या मारकाट की छूट या प्रधानता हो और जिसके साथ चिर संघर्ष लगा हुआ हो। शायद इसलिये भी किसानों की तरफ हमारे साम्यवादियों ने बहुत ध्यान नहीं दिया हो। बहरहाल, हिन्दुस्तानी काश्तकार आम तौर पर साम्यवाद से प्रभावित नहीं हुए। इस का सूत्रसंचालन रूस से होने के कारण राष्ट्रवादी भारत के स्वाभिमान ने इसे ज्यूं का त्यूं अंगीकार करने से इन्कार किया और जन साधारण ने इस धर्म-विरोधी विचार-सरणी को नहीं अपनाया। राजस्थान के सार्वजनिक जीवन में

इस दल का कोई रचनात्मक भाग नहीं रहा और न उसके अधिकांश सदस्यों के साधारण व्यवहार की ही अच्छी छाप पड़ी। जो भी प्रतिक्रिया हुई वह प्रतिकूल ही हुई। पिछले महा-युद्ध के समय तो साम्यवादी दल ने राष्ट्र के साथ स्पष्ट ही दगा किया।

समाजवादी (सोशलिस्ट) दल कांग्रेस के साथ रहा। पिछले दिनों तक राजस्थान में इनकी गिनती अंगुलियों पर हो सकती थी। ऐसी हालत में उनका दल या संगठन तो होता ही क्या? हां, उदारदल की तरह इनमें भी चोटी के लोग अध्ययन-शील, उच्च शिक्षित और तर्कशाली होते हैं। समतावादियों में इनकी वही स्थिति है जो राष्ट्रवादियों में नरम दल की। फ़र्क़ इतना ही है कि ये पूर्ण स्वाधीनता और बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्षपाती हैं। साम्प्रदायिकता से ये भी दूर रहते हैं। मगर उतने ही दूर रचनात्मक कार्यों से भी रहते हैं। राजस्थानी, समाज-वादी तो मजदूरों या साधारण जनता के साथ भी बहुत सम्पर्क स्थापित न कर सके। अलबत्ता अब प्रजामंडलों और कांग्रेस संगठन में पत्रकारों और विद्यार्थियों में इनकी संख्या बढ़ती जा रही है। कांग्रेस से अलग होकर अब ये क्रियाशील भी ज्यादा बनेंगे। विरोधी दल के रूप में इसकी लोकप्रियता बढ़ने की सभावना है।

सर्वोदयवादी दल सबसे व्यापक, संगठित और लोकप्रिय रहा। इसे सत्याग्रहवादी और गांधीवादी भी कहते हैं। इसकी

सफलता का मुख्य कारण इसके प्रणेता और नायक महात्मा गांधी का अद्वितीय कार्य, अलौकिक व्यक्तित्व और देश विदेश व्यापी प्रभाव है। सन् १६२० से ही गांधीजी हमारे राजनैतिक गगन में सूर्य के समान चमकते रहे। हमारे राष्ट्रीय जीवन के हर पहलू पर उनके विचारों का प्रकाश पड़ा है और समाज की प्रत्येक प्रवृत्ति पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव हुआ है। उन्होंने जाति का हर दिशा में सुधार करने की कोशिश की है। ऐसी सर्वतोमुखी सामर्थ्यवाली विभूति की तरफ सभी का आकर्षित होना स्वाभाविक था। गांधीजी ने भारतीय संस्कृति के मूल और मुख्य आधार की रक्षा करते हुये पश्चिम की वे सभी खूबियां ग्रहण करली जो हमारी सांस्कृतिक सम्पत्ति और राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ा सकती थीं। उनके सर्वोदयवाद में दूसरे वादों की खास खास अच्छाइयां भी शामिल हैं। इसमें विप्लववाद का गीतामय जीवन और पूर्ण स्वाधीनता का ध्येय है, नरम दल की समाज सुधार, रचनात्मक सेवा और समझौते की वृत्ति है, राष्ट्रवाद की असाम्प्रदायिकता है, समाजवाद का बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण है और साम्यवादियों की अराजकता है। विप्लववाद और साम्यवाद की तरह यह निश्चय के प्रकृति के बल (Sanctions) में विश्वास रखता है और इन दोनों से अधिक आमूल और व्यापक क्रांति का हिमायती है। सत्याग्रहवाद वर्गयुद्ध के विग्रहकारी कार्यक्रम के बजाय वर्ग की भलाई चाहता है; शोषकवर्ग के नाश का व्यर्थ प्रयास

छोड़ कर उसके हृदय-परिवर्तन और स्वेच्छापूर्वक त्याग का अधिक स्वाभाविक और आशामय प्रयत्न करता है। समाजवादियों की तरह वह भी मानता है कि पूंजी के सच्चे उत्पादक और असली स्वामी मजदूर हैं और उत्पादन में केवल बुद्धि या धन लगाने वाला समुदाय मालिक नहीं ट्रस्टी या रक्षक बनने का हक़दार है। यह समाजवादियों और साम्यवादियों की राजाओं, जागीरदारों और दूसरे परंपरागत सुविधा और सत्ताभोगी समूहों के विनाश का पथ ग्रहण न कर के उन्हें जनता के सेवक बनाने का पक्षपाती है। इस कारण इन विशेष समुदायों की तरफ से भी गांधीवाद का तीव्र विरोध नहीं हुआ और एक हद तक उनकी सहानुभूति भी मिली। हिन्दू धर्म के आधारभूत सिद्धांत सत्य और अहिंसा के साथ गांधीजी ने अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अस्वाद आदि यम नियमों का पुट लगा कर असंग्रह, शरीरश्रम, निर्भयता, सर्वधर्म-समभाव, स्वदेशी और स्पृश्यता के ग्यारह नियम ऐसे बता दिये जिन्हें गांधीवाद के तत्व कह सकते हैं। सत्य सर्वोपरि है, मगर अहिंसा के बिना उसका श्रेयस्कर पालन नहीं हो सकता। या यूं कहिये कि न्याय साध्य है और उसका साधन प्रेम हो तभी वह कल्याणकारी हो सकता है। लक्ष्य शुद्ध होने पर भी उस तक पहुंचने के तरीक़े अशुद्ध हों तो लक्ष्य अनिष्ठ हो सकता है। इस बात पर गांधीवाद का बड़ा जोर है। यह एक निर्विवाद सचाई है कि झूंठ और क्रोध का छल और पशु

बल का, दूसरे पर अच्छा असर नहीं होता। प्रतिपक्षी का हृदय अहिंसा अर्थात् प्रेम, दया, क्षमा या उदारता से ही जीता जा सकता है। लेकिन इस हृदयपरिवर्तन के लिये निष्क्रिय अहिंसा काफ़ी नहीं है। उसे सक्रिय होना चाहिये। पापी, अत्याचारी या विरोधी के प्रति रोष, प्रतिशोध या बल प्रयोग न करते हुये और सब कष्ट सह कर भी सत्याग्रही को उचित बात पर डटे रहना ज़रूरी है। इसी को सत्याग्रह कहते हैं। गाँधीवाद के शस्त्रागार का यही ब्रह्मास्त्र है। लेकिन सत्याग्रही को अस्तेय यानी चोरी न करने का व्रत भी पालन करना ज़रूरी है। उसके विचार से इतना ही काफ़ी नहीं है कि किसी की चीज़ उससे बिना पूछे न ली जाय, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम संसार को अधिक से अधिक दें और अपने लिये कम से कम लें। ब्रह्मचर्य के पुराने अर्थ में भी गांधीवाद ने यह सुधार और विस्तार किया है कि अविवाहित रहने या विवाहिता पत्नी से अलग होने की अपेक्षा उसके साथ रह कर संयम रखने में अधिक शौर्य है। अस्वाद के नियम का उपयोग भी स्पष्ट ही है कि मनुष्य अधिक खाकर बीमार पड़ने और विकारों का शिकार होने से बचे। असंग्रह की कल्पना साम्यवाद के व्यक्तिगत सम्पत्ति न रखने वाले विधान से भी आगे बढ़ी हुई है। उस विधान में कुछ हज़ार तक रुपया रखने की गुंजायश है तो यहां रोज़ कुआं खोदने और रोज़ पानी निकालने की आशा रक्खी गई है। इन पांचों नियमों का लाभ एक ग़रीब देश के सेवकों

के लिये साफ़ ही है। शरीरश्रम का महत्व अस्वाद की तरह स्वास्थ्य के लिये तो है ही, इसका मुख्य मूल्य मनुष्य की शोषणवृत्ति कम करने में है। हम अधिक से अधिक सुख भोगना चाहते हैं इसलिये .खुद कम से कम काम करके दूसरों से ज्यादा से ज्यादा काम लेने की कोशिश करते हैं। नतीजा यह होता है कि संसार में एक तरफ़ मुट्ठी भर पढ़े लिखे, धनवान और सत्ताधारी लोग हैं जो जरूरत से ज्यादा खाते, पहनते और नाम मात्र को मेहनत करके भी मौज उड़ाते हैं और दूसरी ओर करोड़ों इन्सान अपना .खून पसीना एक करके भी नंगे-भूखे और निराश्रित रहते हैं। एक वर्ग शरीरश्रम के अभाव में और दूसरा उसकी ज्यादती से स्वास्थ्य की हानि करता है। गांधीवाद ने निजी कामों के रूप में शरीरश्रम आवश्यक क़रार देकर .वर्ग-विषमता और शोषण के एक ज़बरदस्त कारण को दूर करने का सुगम उपाय सुझाया है। भारत संतान की चिरभीरुता को मिटाने के लिये निर्भयता का पाठ पढ़ा कर गांधीजी ने उसमें हंसते हंसते जेल, लाठी और गोली की मार सहने का साहस उत्पन्न किया है। अंग्रेजों की फूट डाल कर शासन करने की नीति ने हिन्दू, मुस्लिम और और दूसरी जातियों में वैमनस्य का विष वृक्ष लगाया। उसके उन्मूलन के लिये भी सर्वधर्म-समभाव ज़रूरी था। मगर इससे भी बड़ी शिक्षा इस व्रत में यह है कि हम सब एक ही ईश्वर की संतान हैं, सारे धर्म उसी एक लक्ष्य तक पहुँचने के अलग अलग रास्ते मात्र हैं और हम सब अपने धर्म से प्रेम और दूसरे धर्मों

का आदर करते हुये भाई भाई की तरह सुख शांति से रह सकते हैं। विदेशी चीजों की झूठी तड़क भड़क और सस्तेपन की गलत धारणा ने हमें अपने देश की बनी हुई वस्तुओं के प्रति इतना उदासीन बना दिया था कि हम अंधे होकर अपना धन विदेशों में बहा रहे थे और अपने उद्योगधंधों की हत्या करते जा रहे थे। गांधीजी ने हमारी स्वदेशी की भावना को अधिक सुदृढ़ और सजीव तो किया ही, हमें उनसे इस विषय में एक मौलिक विचार भी मिला है। स्वदेशी की उनकी यह व्याख्या यहां तक जाती है कि हम अपने पड़ोसी की सेवा पहले करें और फिर बूते के अनुसार सेवा का क्षेत्र बढ़ाते जावें। अस्पृश्यता को मिटाये बिना तो राष्ट्र में न्याय, एकता और समानता की स्थापना ही नहीं हो सकती थी। सर्वोदयवाद में साधुता, शान्तिप्रियता और जीवदया देखकर धनिकवर्ग ने इसके अनुयायियों को धन की अच्छी सहायता दी। कुछ अमीरों ने इन्हें भावी शासक समझकर भी मदद की। गांधीजी ने गोखले की भारत सेवक समिति से आजन्म सेवा करने वाले कार्यकर्ताओं की कल्पना लेकर धनवानों के दान से उसका खूब उपयोग और विस्तार किया। इससे देश में सैकड़ों ऐसे सेवक पैदा होगये जो सारा समय लगाकर जनता की भलाई का कोई न कोई काम करते रहें। इनका एक बलशाली संगठन बन गया। ये लोग आजादीकी लड़ाइयों में तो सैनिक बन जाते और शान्तिकाल में अस्पृश्यता निवारण, शिक्षा, ग्राम सेवा, ग्राम उद्योग और कष्ट

निवारण आदि में से किसी न किसी रचनात्मक प्रवृत्ति में लगे रहते। इससे कार्यकर्ताओं को भावी स्वराज-संचालन के लिये आवश्यक तालीम मिलती है, जनता से दिन रात का सीधा संबन्ध बढ़ता है, उसके दुख सुख, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं का ज्ञान रहता है, ग्रामीणों की कुछ न कुछ प्रत्यक्ष सेवा होती है, उन्हें थोड़ी बहुत रोजी मिलती है, राजकर्मचारियों, सूदखोरों और दूसरे शोषक वर्गों से उनकी कुछ रक्षा होती है और रोजमर्रा के जीवन को सुखी और शुद्ध रखने के लिये उचित सलाह प्राप्त होती है। इन सब बातों से देहाती जनता की राष्ट्रीय आन्दोलन में दिलचस्पी बढ़ती है। वह यह समझ कर उसमें भाग लेती है कि आन्दोलन उसीकी भलाई के लिये है। उसे यह विश्वास होता है कि जिस लड़ाई में वह ख़ुद हिस्सा ले रही है उसका फल भोगने यानी शासन के अधिकारों में भी उसका भाग जरूर रहेगा। सत्याग्रह का संग्राम है हमारे देहातियों की स्थिति, संस्कार और शक्ति के अनुकूल। एक निःशस्त्र, विशाल और अहिंसा-प्रधान संस्कृति वाले देश के बेचारे निरक्षर, दरिद्र और सीधे सादे ग्रामीण अंग्रेजों जैसे घुटे हुए कूटनीतिज्ञ; हिंसा-पटु और संगठित शासकों के सामने गुप्त मार काट, छल कपट की राजनीति या हथियारबंद बगावत में कैसे टिक सकते थे? उन्हें तो खुला और सीधा कार्यक्रम ही पसंद आ सकता है। इस कार्यक्रम की सफलता में स्फुट लड़ाइयों से उन्हें विश्वास तो हो ही गया था, सत्याग्रह के देश·

व्यापी धर्मयुद्ध में वह हर बार बड़ी संख्या में शरीक हुये। गांधीजी ने स्त्रियों, अछूतों आदि जातियों और अल्पसंख्यकों के उत्थान कार्य को भी चालना दी। इस कारण सर्वोदयवादी इन वर्गों में भी लोकप्रिय हुये। गांधीजी के कार्यक्रम में बाल, वृद्ध और कमजोर सभी के लिए स्थान था। वे भी सहायक हुये सब से महत्व की बात यह है कि सामूहिक अहिंसावाद में संसार-समस्याओं को हल करने का सामर्थ्य है। राष्ट्रों में हिंसा और असत्य के आधार पर जो आर्थिक, राजनैतिक और सैनिक संघर्ष चिर-काल से चला आरहा है वह सत्य और अहिंसामूलक उपायों से ही रुक सकता है। सभी देशों के विचारशील व्यक्ति गांधी-वाद की इस योग्यता से आकर्षित हुये हैं और इसमें तो कोई शक ही नहीं कि जब भारत आजाद हो गया है और पिछले महायुद्ध के बाद नया-महा समर मुंह फाड़ रहा है तो दुनिया की आंखें गांधीजी के तरीकों की तरफ लगी हुई हैं। देशी राज्यों की दृष्टि से देखा जाय तो उदार दल को छोड़ कर दूसरे राजनीतिज्ञों ने प्रायः उनकी उपेक्षा की थी। इस कारण वहां की आठ करोड़ जनता के लिये ब्रिटिश भारत की राजनीति दिलचस्पी की चीज नहीं थी। गांधीजी ने एक रियासत में जन्म लिया, हिन्दुस्तान की आजादी में रियासती प्रजा को साझी-दार बनाया और कांग्रेस संगठन में उसे प्रतिनिधित्व दिलवाया। इतना ही नहीं, उन्होंने देशी राज्यों में रचनात्मक कार्य

के जरिये सार्वजनिक जीवन की जड़ जमाई और बाद में उसे बृटिश भारत की तरह ठेठ तक पहुँचा दिया। इस कारण गाँधीवादियों को रियासती प्रजा का समर्थन भी मिल गया। राजस्थान देशीराज्य-प्रधान प्रांत है और सेठ जमनालालजी जैसे समर्थ व्यक्ति राजस्थानी थे। इस कारण इस प्रान्त में गाँधीवादियों का असर व्यापक और स्थायी रहा। मगर गाँधीवादियों में कम से कम राजस्थान में काम करने वाले गाँधीवादियों में न विप्लववादियों का सा उन्माद था और न साम्यवादियों की सी धुन थी। वे राजस्थान सेवासंघ के कार्यकर्ताओं की तरह त्याग, कष्टसहिष्णुता और परिश्रमशीलता का उदाहरण भी पेश न कर सके। आम तौर पर उनकी सहनशीलता तथा नम्रता आदि गुणों के साथ साथ उनकी आराम-तलबी और साधनों के मोह की भी दूसरों पर छाप पड़ी। प्रमुख व्यक्तियों में से अधिकांश में कार्य शक्ति और नेतृत्व के गुणों की भारी कमी पाई गई। दुर्भाग्यवश जब से यह दल राजपूताने में बना तब से आपस का संघर्ष घटने के बजाय बढ़ता ही गया और हर दल से इसकी किसी न किसी समय टक्कर हो गई। इन कारणों से यद्यपि कुल मिला कर प्रान्त की सेवा इनके हाथों और किसी भी दल से कम न होने पर भी जितने साधन, जितना समर्थन और जितना अवसर इन को मिला उतना काम इनके हाथों न हो पाया।

तेरहवां अध्याय

प्रतिकूलताएँ

हमारे प्रांत के राष्ट्रीय प्रयत्नों को यथेष्ट सफलता न मिलने का कारण हमारी दो तरह की प्रतिकूलताएँ थीं। प्रथम तो राजपूताने की भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां अनुकूल नहीं थीं। अजमेर मेरवाड़ा के छोटे से हिस्से को छोड़ कर बाक़ी सारा इलाक़ा रियासती है। पिछले कुछ साल पहले तक इसमें सार्वजनिक कामों की बहुत कम गुंजायश थी। लिखने, बोलने, अख़बार निकालने और सभा-संस्था संगठन करने की आज़ादी न होने से निर्दोष प्रवृत्तियां भी बंद थीं। जिनके दिलों में देशभक्ति के भाव उदय होते उन्हें वहां काम करने का मौक़ा न मिलता। इसलिये उच्च शिक्षितों में व्यावहारिक बुद्धि वाले तथा जोरदार तबीयत वाले अंग्रेज़ी इलाक़े में आकर कांग्रेस या रियासती लोक परिषद में शरीक होकर अपनी सार्वजनिक आकांक्षाओं की पूर्ति करते। मगर अजमेर मेरवाड़ा ख़ुद भी निरंकुश शासन के अधीन था। उसका दायरा भी छोटा सा था। इस सीमित क्षेत्र में भी रचनात्मक कार्य की

और जितना ध्यान दिया जाना चाहिये था उतना नहीं दिया गया। छोटी सी जगह में बहुत से कार्यकर्त्ता इकट्ठे होगये। उन्हें भी पूरी तरह काम में लगाये रखने की चिंता नहीं की गई। निठल्ले रहने और सबकी महत्वाकांक्षाओं के लिये अवसर न मिलने के कारण आपसी संघर्ष अनिवार्य हो गया।

कार्यकर्त्ताओं की भीड़ और पारस्परिक झगड़ों का दूसरा कारण हमारे प्रांत का बहुत बड़ा बना दिया जाना भी था। कांग्रेस ने जिस वक्त मध्यभारत और राजपूताना की रियासतों को अजमेर मेरवाड़े के साथ मिला कर एक सूबा बनाया उस वक्त न तो नेताओं को ही परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान था और न प्रांत के राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को ही इस प्रश्न के महत्व और भावी उलझनों का खयाल था। असल में भूगोल, राजनीति और सभ्यता के लिहाज से राजपूताना के रजवाड़ों और अजमेर मेरवाड़ा का ही मेल बैठ सकता है। मध्यभारत की ये स्थितियां स्पष्टतः एक अलग प्रान्त की मांग करती हैं। उसके बहुत से भाग अजमेर से दूर होने के कारण प्रांत के राष्ट्रीय केन्द्र से घनिष्ठ सम्पर्क नहीं रख सकते। यह दूरी आमदरफ्त के लिये खर्च होने वाले समय और धन की समस्या भी उपस्थित करती है। इसी वजह से मध्यभारत की जन-संख्या और कार्य-कर्त्ताओं की तादाद के मुताबिक़ बहुत अर्से तक उन्हें योग्य महत्व नहीं मिल सका और उनमें यह असंतोष रहा कि मध्यभारत राजपूताने का पुछल्ला है। बुंदेलखंड वाले तो आखिर इस

प्रांत से निकल ही गये। इधर मध्यभारत वालों को यह शिका-यत रही कि जो लोग उन्हें छोड़ कर अजमेर में आ बसे हैं उन्हें मध्यभारत का प्रतिनिधि क्यों मान लिया जाता है और इधर राजपूताने वालों को यह शिकायत रही कि बाहर के लोग हमारे शिर पर आ बैठे हैं।

रचनात्मक काम भले ही अजमेर मेरवाड़े में बहुत न हुआ हो, किन्तु प्रांत में तो हुआ ही। इस कार्यक्रम की सफलता का रहस्य इस बात में होता है कि उसमें लगे हुये कार्यकर्त्ता सभी दलों का सद्भाव प्राप्त करें। यह सद्भाव चुनाव सम्बन्धी और दूसरे राजनैतिक झगड़ों में तटस्थ रह कर ही प्राप्त किया जा सकता है। मगर हमारे यहां के रचनात्मक सेवक विशेषतः खादी कार्यकर्ता यह निर्पेक्षवृत्ति न रख सके और राजनैतिक दलबन्दी में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेते रहे। सेवा के साधनों का इस प्रकार का उपयोग पारस्परिक संघर्ष बढ़ा ही सकता था।

एक बड़ी प्रतिकूलता हमारे प्रांत की यह रही कि हमारे किसी राष्ट्रीय कार्यकर्ता को शक्तिशाली नेतृत्व का पद और सर्वाङ्गीण प्रभाव प्राप्त नहीं हुआ। सेठीजी और पथिकजी दो व्यक्ति जरूर ऐसे थे जिनमें प्रारंभ में नेता के काफी लक्षण दिखाई दिये। मगर वे बराबरी के आदमी थे। उनमें आपस में स्पर्धा रही। कार्यक्षेत्र अलग अलग होने के कारण संघर्ष भले ही उनमें तीव्र न हुआ हो,

परन्तु असहयोग तो था ही। सेठ जमनालालजी ही एक ऐसे समर्थ पुरुष थे जिनका व्यक्तित्व, प्रभाव और व्यवहार प्रांत के छोटे बड़े अधिकांश कार्यकर्त्ताओं पर असर डाल सकता था। मगर वे अखिल भारतीय नेता थे। मध्यप्रांत मुख्यतः उनका कार्य एवं निवासक्षेत्र था। राजस्थान में आकर बैठने की उनको .फुरसत न थी। यहां के गांधीवादी दल के वे सरपरस्त थे। जब यह दल आपसी झगड़ों में पड़ा तो सेठजी की स्थिति, गलत या सही, दूसरे दलों की दृष्टि में सर्वथा निष्पक्ष नहीं रही। फिर भी मेलमिलाप और संगठित कार्य के हर प्रयत्न को उनकी तरफ से प्रोत्साहन मिलता था। बाक़ी के लोगों में से जो प्रान्त के सार्वजनिक जीवन का पथ-प्रदर्शन करने की क्षमताएं रखते थे वे अपनी व्यक्तिगत कमजोरियों के साथ साथ सार्वजनिक ईर्ष्या के शिकार हो गये। जो इस विषय में अधिक भाग्यशाली थे उनमें लोकनायक बनने की योग्यताएं नहीं थीं। लेकिन महत्वाकांक्षा तो थी ही। इसकी पूर्ति के लिये अपात्रों को आर्थिक सहायता या पद-दान की नीति से अपना बना कर रखना स्वाभाविक था। फलतः नये और छोटे कार्यकर्त्ताओं में लोभ की वृत्ति पैदा हुई और वे खुशामद के जरिये सुविधाएं प्राप्त करने की कला सीखने लगे। अनुयायियों की हेरा फेरी हमारे सार्वजनिक जीवन का एक स्थायी सा अभिशाप होगया। एक नेता के प्रति बेवफ़ाई दूसरे के प्रति श्रद्धा की कसौटी बन गई। इस गड़बड़ में अपने आदमियों की उपेक्षा और दूसरों की

ग़लतियों की निन्दा करना राजनैतिक अखाड़े की साधारण रण-नीति होगई। उद्दण्डता दूसरों में पाई गई तो वह 'गुण्डाई' कहलाई और अपनों में हुई तो उसे 'दबंगपन' का दर्जा मिल गया। विरोधी की साधुता को धूर्तता और उसकी तेजस्विता को उच्छृंखलता बता कर कोसा गया। फिर भी हमारे यहां 'राज॰स्थान के एक मात्र नेता' निर्माण करने के कई प्रयत्न हुए। इनके असफल होने पर सामूहिक नेतृत्व का विकास करने की चर्चाएं चलीं। ख़याल अच्छा था। अ. भा. कांग्रेस की कार्यसमिति का उदाहरण भी मौजूद था। मगर हमारे प्रांत में आपस के झगड़ों से दिलों में इतनी खाई पैदा होगई थी कि पुराने कार्य॰कर्ताओं में तो आपस में सहयोग नहीं हो सका और नये लोगों की महत्वाकांक्षा की कोई सीमा नहीं थी। वे छलांग मार कर सभी के शिर पर बैठना चाहते थे। कुछ ऐसे जीव भी थे जो न किसी एक व्यक्ति का लोहा मानने को तैयार होते थे और न किसी ऐसे सामूहिक नेतृत्व को पसन्द करते थे जिसमें वे खुद सम्मिलित न किये गये हों। फिर भी हमें आगे पीछे इसी सामूहिक उपाय का अवलम्बन करना पड़ेगा। दूसरा कोई चारा ही नहीं दीखता।

हमारे कांग्रेस-संगठन में एक ख़ामी यह रही कि हमने स्थानीय प्रश्नों की तरफ़ ध्यान नहीं दिया। इस कारण सर्व साधारण और खास कर पीड़ित और दलित वर्ग की वास्तविक सहानुभूति और क्रियात्मक सहयोग प्रान्तीय या स्थानीय कांग्रेस

शाखाओं को नहीं मिला। इसका एक प्रमाण और परिणाम यह है कि हमारे बड़े से बड़े राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं के नाम और सूझ से आम जनता परिचित नहीं हुई और कांग्रेस के मामूली आयोजनों में हमने बहुत थोड़ी दिलचस्पी दिखाई। इस दिशा में सिर्फ तीन कार्यकर्त्ताओं ने प्रयत्न किया। श्री० कृष्णगोपाल गर्ग ने व्यापारियों में, श्री० बालकृष्ण गर्ग ने हरिजनों और म्यूनिसिपल्टी के निम्न कर्मचारियों में और श्री० ज्वालाप्रसाद ने रेल्वे मजदूरों में उनकी दैनिक समस्याएं और प्रत्यक्ष तकलीफें मिटाने के लिये काम करने का प्रयत्न किया।

प्रान्त की साधारण जनता और उसके भिन्न २ वर्गों की हालत भी किसी प्रगतिशील और प्राणदायक कार्यक्रम के अनुकूल नहीं थी, बृटिश संरक्षण ने हमारे राजाओं को अंग्रेजों के सामने भेड़ और प्रजा के आगे शेर बना दिया था। अधिकांश को भोग विलास के सिवाय दूसरे किसी शग़ल में दिलचस्पी नहीं रही। वे अपने को देश के सेवक और वस्तुतः प्रजा के स्वाभाविक नेता समझ कर आगे बढ़ते तो उन्नति का मार्ग काफी सुगम और प्रशस्त हो सकता था। जागीरदारों की ज्यादतियां राजाओं से भी अधिक अमर्यादित थीं। वे राजा प्रजा दोनों के अप्रिय बनकर लोकहित के लिये निकम्मे हो गये। इन दो वर्गों में देश प्रेम, दूरदर्शिता और कर्मण्यता होती तो इन्हें भारत के समुराई कहलाने का और भारत को जापान की तरह स्वातंत्र्य-सुख भोगने का सौभाग्य कभी का सुलभ हो सकता

था। आज तो राजा नाम मात्र को और जागीरदार मरणोन्मुख ही हैं।

धनवानों में दान देनेका संस्कार प्रबल था,परन्तु उसमें विवेक का अभाव था। वे जो कुछ देते थे अधिकांश ऐसे कामों में देते थे जिनका आधुनिक काल में बहुत उपयोग नहीं रहा। सम्पत्ति मनुष्य को कायर बनाती है। इसलिये राजस्थानी अमीर ऐसे कार्यों में मदद देने से डरते थे जो राज-सत्ता को नापसन्द हों। जब उनमें राष्ट्रीय भावना उदय हुई तब भी उसमें संकीर्णता बाक़ी रही। जिस प्रदेश में वे पैदा होते उसी में अधिक खर्च करते। यह प्रदेश प्रान्त के हिसाब से बहुत छोटा है। नतीजा यह हुआ कि राजपूताने के अनेक भागों में जहां सेवा की बहुत ज़रूरत थी और जहां थोड़े धन से काफ़ी काम हो सकता था वहां उसके अभाव में काम नहीं हो सका और जहां बहुत जरूरत नहीं थी वहां पानी की तरह पैसा बहता रहा। इससे सेवक और सेव्य दोनों की मनोवृत्ति में बिगाड़ हुआ। हमारे बहुत से दानियों में आगे चलकर यह खराबी भी आगई कि धार्मिक और सामाजिक कामों की तरह राष्ट्रीय क्षेत्र में भी वे नाम चाहने लगे। इससे सार्वजनिक जीवन की शुद्धता को काफ़ी हानि पहुंची। आज तो स्थिति यह है कि अधिकांश दाता लोग यश भी चाहते हैं और पद भी। जहां खुले तौर पर पद लेने में जोखम होती है वहां वे अपने 'नुमायंदों' को देखने के इच्छुक रहते हैं। माया के इस बढ़ते

हुए प्रभाव ने त्याग सेवा और शौर्य का मूल्य घटा कर कंचन को ऐसी जगह आसीन कर दिया है जहां वह भलाई के बजाय बुराई अधिक कर रहा है। इसने हमारी राजनीति में कृत्रिम दलबन्दी को जन्म दिया है। पूंजीपति भी अब थोड़े ही दिन के महमान हैं।

अजमेर-मेरवाड़ा की शासन-पद्धति और नीति भी सदा लोकबल के विकास में बाधक रही। शायद वह घड़ी ही इसी प्रकार और इसी हेतु से गई थी। विदेशी निरंकुशता ने गांव में राजनीति की गंध न पहुंचने देने के लिये असाधारण सतर्कता रखी, जिन कार्यकर्ताओं ने जिले के अत्याचार के क़िले-इस्तमुरारी इलाकों की जनता में प्रवेश करने की कोशिश की उन्हें निकाल देने के लिये मदाखिलत बेजा के क़ानून तक का दुरुपयोग करने में शर्म महसूस नहीं की गई, मानो उस ज़मीन पर अंग्रेज शासक या राजपूत इस्तमुरारदार ईश्वर के यहां से पट्टा करवा कर लाये हों और जो प्रजा दोनों के आगमन से भी पहले उस पर क़ाबिज़ थी उसका कोई हक़ ही नहीं था। ख़ैर, अब तो इस्तमुरारी प्रथा आख़िरी सांस ही ले रही है। अफ़सोस की बात है कि नेताओं की तरफ़ से इस दमन का योग्य उत्तर नहीं दिया गया। दो एक कार्यकर्त्ता जेल भेज दिये गये। जनता दब गई। उसका सेवकों पर से विश्वास उठ गया। हमारे कांग्रेस-संचालन में यह एक ख़ास कमज़ोरी रही कि हम आरंभ-शूर रहे और किसी

बात को उठा कर उस पर अन्त तक डटे नहीं रह सके। इसी तरह शहरी मजदूरों में जागृति और संगठन पैदा करने के जितने प्रारंभिक प्रयत्न किये गये उन्हें भी बेदर्दी के साथ कुचल दिया गया। खालसे में किसानों को लगान और लागबाग की ज्यादती का कष्ट तो नहीं था, मगर इनमें जो जीवट के आदमी निकल सकते थे उन्हें फौज में नौकरियां देकर प्रजा के लिये निकम्मा ही नहीं बाधक बना दिया जाता था। मध्यमवर्ग के लोग अधिकांश सरकारी या रेल्वे की नौकरियों के कारण स्वार्थभीरु होगये। रिश्वत देने, लेने या दिलाने वालों में न्याऊं का ठौर पकड़ने की हिम्मत कहां से आवे? नसीराबाद, नीमच और नऊ आदि खालिस फौजी अड्डे ठहरे। छावनियों में सैनिक अधिकारियों के स्वेच्छाचारी अख्तियारों के सामने मामूली साहस की गुजर नहीं होती। केकड़ी सामन्तशाही के और पुष्कर पंडाई के वायुमण्डल से दूषित था। ब्यावर के व्यापारी नगर में जरूर सार्वजनिक उत्साह पैदा हुआ। बाजारू तत्वों के बाहुल्य से वहाँ प्रदर्शनात्मक आयोजन सफल भी हुए। किन्तु वहां आदर्शवाद, बुद्धिशालीनता और संस्कृति का आधार न होने से जिन योजनाओं में ठोसपन, स्थायीत्व और ऊंची सतह की जरूरत होती है वे कामयाब नहीं हुईं।

एक और प्रतिकूलता भी रही। हमारे प्रान्त को समय समय पर ऐसे कई सेवकों की सेवाएं प्राप्त हुईं जो दूसरे सूबों से आये

थे। इनमें से कई हमारे प्रमुख सेवक बनकर रहे। इनके द्वारा राजपूताने की सेवा भी काफी हुई। इसके लिये हमें उनका अहसानमन्द होना चाहिये था। उन्हें भी सेवा का यह सौभाग्य पाकर खुश होना उचित था। फिर भी उन्हें अपनी सहायता के लिये बाहर से अपने भरोसे के सहायक कार्यकर्ता बुलाने पड़े। यह स्वाभाविक ही था। लेकिन इस हद तक स्थानीय और प्रान्तीय कार्यकर्ताओं को अवसर कम मिला। इस पर असन्तोष होना भी आश्चर्य की बात नहीं थी। फलतः इन सेवकों को 'बाहर वाले' कहकर समय-असमय चिढ़ाया गया। उन्होंने भी राजस्थान को 'मरुभूमि' 'नमक की खान' आदि विशेषण देकर यह प्रगट किया कि बरसों तक यहाँ का अन्न जल खाकर भी वे अपने में इस प्रान्त के प्रति ममत्व पैदा नहीं कर सके। आपसी मनमुटाव का और जनता में इन सेवकों का प्रभाव न बढ़ने का एक कारण यह भी रहा।

हमारे छोटे कार्यकर्ताओं में भी अनेक दोष पाये गये। इनमें से अधिकांश सन् १९३० के विराट आन्दोलन के जोश से प्रभावित होकर राष्ट्रीय क्षेत्र में आये थे। उनमें १९०८ के देश-भक्तों की-सी आदर्शवादिता और १९२० के सत्याग्रहियों की-सी त्याग भावना नहीं थी। ज्यादातर स्वयंसेवक देखादेखी और परिणामों का विचार किये बिना भरती हुए थे। उनके संस्कार ऊँचे नहीं थे। बौद्धिक सतह भी नीची थी। न उन्होंने और न उनके नायकों ने ही ये त्रुटियां दूर करने की कोई खास

कोशिश की। सर्कार से लड़ने के कारण उनमें लड़ाकूपन तो आ ही गया था। राजनीतिक अखाड़े की दलबंदियों, चुनावों की अनीतियों और जेल जीवन की अशुद्धताओं ने उन्हें नेताओं की बुराइयां तो सिखा दीं मगर उनके गुण सीखने में न ये तत्पर रहे और न सफल हुए। फलतः कांग्रेस के भीतर आवारा, उद्दण्ड और अविश्वसनीय 'देशभक्तों' का एक दल ऐसा भी पैदा होगया जिसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि जब तक आप उन्हें खिलाते पिलाते और बढ़ाते चढ़ाते रहिए तब तक उनका शरीर, इज्जत और अन्तःकरण सब कुछ आपके अर्पण है, आप उनसे बुरा से बुरा काम ले लीजिये; लेकिन ज्यूंही आपने कृपा कर वरदहस्त हटाया और किसी कारण-वश सहायता देना बन्द किया त्योंही वे आपके शत्रु हो गये। फिर तो आपका खुले तौर पर अपमान करना, गाली गलौज व मारपीट पर उतर आना, आपके खिलाफ पर्चे निकालना, विश्वासघात करना और हर तरह आपको तंग करना उनके बायें हाथ का खेल है। वे राजनीति में झूठ ही नहीं खानगी जीवन में भी बेईमानी, छलकपट, हिंसा और अनाचार की सभी शाखाओं को विहित मानने और तदनुसार व्यवहार करने लगते हैं। जो प्रमुख व्यक्ति कांग्रेस की अहिंसा को केवल मजबूरी समझ कर मानते हैं, किन्तु संस्कार उनके वही पुराने झूठ और हिंसा के बने हुए हैं ऐसे लोगों की तरफ़ से भी इन छोटे कार्यकर्ताओं को समय-असमय प्रोत्साहन मिलता रहता

है। नेताओं के जीवन की प्रासंगिक असंगतताओं को अपनी दिनरात की नीतिहीनता के लिये ये लोग पर्याप्त कारण बताते और उसका औचित्य सिद्ध करते हैं। फल यह होता है कि समय पड़ने पर आर्थिक प्रामाणिकता, शारीरिक कष्ट-सहन, राष्ट्रीय स्वाभिमान और लक्ष्य-निष्ठा की परीक्षाओं में इनमें से बहुतेरे बुरी तरह असफल होते हैं और संस्था की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का तो पहुँचाते ही हैं, उसके संगठन की मजबूती, कार्य-संचालन की शान्ति और अनुशासन की कड़ाई की भी काफी हानि करते हैं। इन के व्यवहार में मर्यादा, बुद्धि में ज्ञान, हृदय में नीतिमत्ता और संस्कारों में ऊंचाई, शिष्टता और नम्रता लाने की भरपूर कोशिश न की गई और कार्यों व पदों के वितरण में कस कर जांचने की सावधानी न रखी गई तो हमारा भावी निर्माण कार्य भी चौपट होने से नहीं बच सकेगा।

चौदहवां अध्याय

अब क्या किया जाय

कुछ सुझाव

देश आज़ाद होगया। अब मातृभूमि के राष्ट्रीय-जीवन की पुनर्रचना करने की ज़िम्मेदारी हम पर आगई है। यह काल किसी भी राष्ट्र के इतिहास में जितना महत्वपूर्ण होता है, उतना ही नाजुक होता है। किसी बाहरी शत्रु से लड़ना निस्सन्देह बहुत कठिन काम है। मगर उससे भी मुश्किल होता है उस लड़ाई से थकी हुई और बिखरी हुई भीतरी शक्तियों को इकट्ठा करके रचनात्मक उद्योग में लगाना। युद्धकाल में शत्रु को हराने का एक सामान्य लक्ष्य अपने आप बन जाता है और उस तक पहुंचने के लिये सब .खुशी .खुशी एक होजाते हैं। इसके विपरीत, शांतिकाल में भिन्न २ स्वार्थों, विचारों और आदर्शों को अपनी अपनी डफली अलग बजाने का मौक़ा मिलता है। यही घड़ी ऐसी है जब एकीकरण के लिये उत्कट देशभक्ति, लोक कल्याण की विशुद्ध भावना और असाधारण दूर-दृष्टि की ज़रूरत है। अन्यथा हमारी आपसी फूट,

नासमझी और निष्क्रियता से ही सदियों की तपस्या व्यर्थ हो सकती है।

इसलिये वर्तमान और निकट भविष्य में राजस्थान की समस्त संतान को अत्यन्त जागरूक, विचार शील और कटिबद्ध होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना होगा। हमारे प्रांत के लिये सर्वाङ्गीण सावधानी की और भी ज्यादा जरूरत है, क्योंकि दुर्दैव ने इसके कई अलग अलग राजनैतिक टुकड़े कर डाले हैं और साम्राज्यवादियों की कूटनीति ने उतने ही जुदा-जुदा स्वार्थ स्थापित कर दिये हैं। उन सब का हमें सामंजस्य करना है। उस हालत में राजा परम्परागत सम्मान के हक़दार तो रहेंगे, मगर शासन कार्य पूरी तरह प्रजा के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा संचालित होगा। सार यह कि राजा रहेंगे, सुख से रहेंगे, और प्रजा व देश की सेवा करने के लिये बिलकुल आजाद होंगे। हां, किसी पर ज्यादती करने की सत्ता उनके पास नहीं रहेगी। हर रियासत का कई बातों में अलग अस्तित्व भी क़ायम रह सकेगा, उसका दर्जा एक जिले से कम न होगा। परन्तु उसे अजमेर मेरवाड़ा के साथ संघबद्ध होकर प्रांत का एक अंग भी बनना पड़ेगा। यही सूबा राष्ट्र की प्रांतीय इकाइयों में शुमार किया जायगा। उसके शासन और उसके अधिकार एवं दायित्व भी दूसरे प्रांतों के समान होंगे। अगर हमारे राजा इस हद तक भी राष्ट्रीय हित और जीवन के साथ जाने को तय्यार न हुये तो उनके और उनके राज्यों का अस्तित्व मिटे बिना नहीं

रह सकता। उस अवस्था में राजस्थान भी देश के दूसरे प्रांतों की तरह वैसा ही एक प्रांत बन जायगा।

हमारी प्रान्तीय समस्याएं अलग हैं और रहेंगी। इनको प्रगट करने और इन पर लोकमत जागृत, शिक्षित व संगठित करने के लिये हमारे अपने अखबारों की जरूरत होगी। ऐसे ही समाचार-पत्र हमारे विशेष प्रश्नों के साथ न्याय कर सकते हैं। इस कार्य के लिये प्रत्येक महत्वपूर्ण राज्य के स्थानीय मुख-पत्रों के तौर पर एक दैनिक की भी जरूरत है। साथ ही ऐसे अखबार भी चाहिये जो राजस्थान भर के सामूहिक सवालात को प्रांतीय दृष्टि से हल करने में अपनी शक्ति केन्द्रित करें। अवश्य ही इनका संचालन निर्दल ढंग पर होना चाहिये।

राजस्थान का प्रांतीय स्वरूप इस तरह संगठित करने के अलावा हमें उसे विकास में-प्रगति में भी दूसरे प्रांतों की सतह के बराबर पहुंचाना होगा जिससे वह राष्ट्र का एक दुर्बल अंग न रह कर सबल भाग बने और विश्व की उन्नति में गौरवपूर्ण हिस्सा लेने के योग्य बनने में देश को सहायक सिद्ध हो।

इस सुखद स्थिति तक पहुंचने के लिये हमें कितना काम करना पड़ेगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। वह जितना कठिन होगा उतना ही पवित्र, महत्व-पूर्ण और श्रेयस्कर भी होगा। उसे करना भी हमी को होगा। मगर उसकी सफलता की कुछ शर्तें हैं। उन्हें पूरा करने के दृढ़ संकल्प के साथ हमें इस पथ पर अग्रसर होना चाहिये।

कोई महान सार्वजनिक आयोजन तभी पार पड़ सकता है जब सामूहिक हित के लिये व्यक्ति अपने स्वार्थों, महत्वाकांक्षाओं और दूसरी आसक्तियों को बलिदान करने के लिये तैयार हो। दूसरे, जिन भूलों या दोषों के कारण हमारी भूतकालीन चेष्टाएं विफल हुई या पूरी तरह सफल न हुई हों उनसे लाभ उठाकर अपने भावी प्रयत्नों में सतर्कता रखनी होगी। तीसरे, हम अपने अपने अधिकारों पर जोर न देकर कर्त्तव्यपालन और जिम्मेदारी का ही ज्यादा ख्याल रक्खेंगे तभी परस्पर सहयोग सुगम हो सकेगा। चौथे, जब तक हमारे राष्ट्र का संगठन मजबूत, शासन सुव्यवस्थित और साधारण हालात शांत न हो जायं तब तक अलग अलग विचार धाराओं और कार्यपद्धतियों का आग्रह छोड़ कर समूचे देश के लिये जो नीति और कार्यक्रम राष्ट्र के कर्णधारों द्वारा तय हो उसी को पूरा करने में अपनी सारी शक्तियां लगानी होंगी। पांचवें, विकेन्द्रीकरण के आदर्श तक पहुंचने के लिये अर्थात् भारत के स्वाभाविक और छोटे छोटे नागरिक व ग्रामीण प्रजातन्त्र उत्पन्न करने के लिये बीच के काल में हमें राजनैतिक संगठन और राष्ट्रीय व्यवस्था में केन्द्रीकरण का आश्रय लेना पड़ेगा और एक सबल केन्द्रीय हकूमत के जरिये जाति, धर्म, नस्ल और वर्ग सम्बंधी परस्परविरोधी स्वार्थों को देश के सार्वत्रिक हितों के खिलाफ खड़ा होने से रोकना पड़ेगा।

मेरी राय में राजस्थानियों में यह सारी पात्रतायें लाने के लिये एक उपाय सर्वोपरि और अनिवार्य है। वह यह कि प्रांत

के पुनरुत्थान-यज्ञ का संचालन योग्य हाथों में हो। दुर्भाग्यवश न तो हममें कोई विभूति एक ऐसी है और न दरअसल यह काम एक आदमी के बूते का है। हमें अपने यहां के विविध शक्ति रखने वाले कुछ प्रमुख सेवकों का संचालक मण्डल बनाना ही पड़ेगा। सौभाग्य से हमारे प्रान्त में ऐसे लोगों की कमी नहीं है। ज़रूरत इसी बात की है कि वे पुराने रागद्वेष को छोड़ कर, व्यक्तिगत आकांक्षाओं को तिलांजलि देकर और शांतके भावी के प्रति वफ़ादारी की प्रतिज्ञा लेकर आगे बढ़ें और सहयोग की पतवार के सहारे राजस्थान की नाव को चलावें। एक प्रकार से प्रान्तीय सार्वजनिक जीवन की व्यवस्था के लिये यह हमारा ग़ैर सरकारी मन्त्रि-मंडल होगा। पथप्रदर्शन की ज़िम्मेदारी हर सदस्य पर बारी बारी से प्रतिवर्ष रक्खी जा सकती है। अवश्य ही इसका अनुशासन कड़ा होना चाहिये और दूसरे सदस्यों को हृदय से सहयोग देना चाहिये। संचालक मण्डल के निश्चयों को कार्यान्वित करने के लिये ऐसे एक भावनाशील, सधे हुए, समझदार दीर्घोद्योगी और प्रतिज्ञाबद्ध सेवक समूह का होना अनिवार्य है जो जीवन भर या लम्बे अर्से तक सारा समय देने को तैयार हो जिसके कार्य में संचालक मण्डल के बदलते रहने पर भी कोई बाधा न पड़े।

इस योजना में वे सारे तत्व मौजूद हैं जिनके अभाव में मानव स्वभाव विपरीत दिशा में काम करने लगता है। इसमें संदेह नहीं कि इतने ही से प्रान्त उन्नति के शिखर पर नहीं पहुंच

जायगा। सेवकों में ऐक्य होने पर भी जनता की ओर से उत्तर अच्छा मिलना जरूरी होगा, हमारे किसान, मज़दूर, शिक्षित, धनिक, कर्मचारी, विद्यार्थी और दूसरे सभी वर्गों को अपना अपना फर्ज़ अदा करना पड़ेगा और हमारे युवकों को अपना सारा उत्साह, बल और बुद्धि रचनात्मक प्रवृत्तियों में अर्पित करना होगा। एवमस्तु !